TEERTHANKER MAHAVEER UNIVERSITY

TMU

MORADABAD

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय

सम्यक् दर्शन • सम्यक् ज्ञान • सम्यक् चारित्र

Accredited with NAAC A Grade

12-B Status from UGC

Jeevan Vigyan Mulya Parak Siksha

BAJSCC303

CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

JEEVAN VIGYAN MULYA PARAK SIKSHA

(BAJSCC303)

REVIEW COMMITTEE

Prof. Dr. Manjula Jain
Dean (Academics)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Prof. Dr. Vipin Jain
Director, CDOE
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Prof. Amit Kansal
Associate Dean (Academics)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Prof. Dr. Manoj Rana
Jt - Director, CDOE
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

PROGRAMME COORDINATOR

Dr. Manjula Jain
Professor
Department of Humanities
Centre for Distance and Online Education (CDOE)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

BLOCK PREPARATION

Dr. Aditya Jain
Department of Humanities
Centre for Distance and Online Education (CDOE)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Secretarial Assistance and Composed By:

Mr. Namit Bhatnagar

COPYRIGHT	:	Teerthanker Mahaveer University
EDITION	:	2024 (Restricted Circulation)
PUBLISHED BY	:	Teerthanker Mahaveer University, Moradabad

विषयानुक्रमणिका

इकाई–1	**मूल्य–परिचय**		**1–24**
	पाठ–1	मूल्य संकल्पना	1–11
	पाठ–2	मूल्य शिक्षा की आवश्यकता	12–24
ईकाई–2	**जीवन विज्ञान और मूल्य**		**25–49**
	पाठ–3	जीवन विज्ञान और शिक्षा	25–42
	पाठ–4	मूल्यपरक शिक्षा : सिद्धान्त और प्रयोग	43–49
इकाई–3	**जीवन विज्ञान और व्यक्तित्व विकास**		**50–68**
	पाठ–5	शिक्षा और मुक्ति की अवधारणा	50–59
	पाठ–6	स्वस्थ समाज संरचना का संकल्प	60–68
इकाई–4	**मूल्य प्रशिक्षण–1**		**69–118**
	पाठ–7	मूल्य–विकास का आधार—अनुप्रेक्षा	69–80
	पाठ–8	सामूहिक मूल्य	81–87
इकाई–5	**मूल्य प्रशिक्षण–2**		**88–110**
	पाठ–9	मानसिक मूल्य	88–101
	पाठ–10	वैयक्तिक मूल्य	102–110

इकाई–1 मूल्य परिचय

पाठ–1– मूल्य संकल्पना

रूपरेखा

1.0 मूल्य संकल्पना

2.0 मूल्य का अर्थ एवं परिभाषाएँ

3.0 मूल्य की प्रकृति

4.0 मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया

5.0 मूल्यों के लक्षण

6.0 मूल्य खोज के प्रयास

7.0 मूल्यों का वर्गीकरण

8.0 सारांश

उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत आप निम्न उद्देश्यों को समझ पाएँगे–

1. मूल्य का अर्थ व परिभाषाओं को समझपाएँगे।
2. मूल्य की प्रकृति को समझ पाएँगे।
3. मूल्य-निर्धारण की प्रक्रिया को समझ पाएंगे।
4. मूल्यों के लक्षणों को समझ पाएँगे।
5. मूल्य खोज के प्रयास को समझ पाएँगे।
6. मूल्यों के वर्गीकरण को समझ पाएंगे।

भूमिका

जीवन को सजाने और संवारने में अनेक तत्त्वों का योग रहता है। मूल्य उनमें एक आवश्यक तत्त्व है जिनके बिना न सुखद एवं शांतिपूर्ण वैयक्तिक जीवन संभव है, न ही सामाजिक जीवन संभव है और न ही इनके बिना आध्यात्मिक जीवन ही संभव है। अत: मूल्यों की महत्ता का अनुमान स्वयं ही लगाया जा सकता है। वास्तव में मूल्य जीवन को बहुआयामी रूप देने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जितने भी महान् व्यक्तित्व हुए हैं, वे मूल्यों से ही ओत-प्रोत रहे हैं। वर्तमान में भी यही बात लागू होती है। मूल्यों के अभाव में मानव दानव बन जाता है। इसके भी प्रमाण हमें मिलते हैं। अत: जीवन के उत्थान और पतन में मूल्यों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। एक सामान्य व्यक्ति भी अपने जीवन में कुछ-न-कुछ अंशों में मूल्यों का पालन अवश्य ही करता है। यह पालन चाहे स्वेच्छा से हो अथवा दण्ड के भय से। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि मूल्य हमारे जीवन के आवश्यक एवं अपरिहार्य तत्त्व हैं।

1.0 मूल्य संकल्पना

मूल्य संकल्पना में मुख्यतया तीन घटकों को देखा जा सकता है। ये घटक हैं—एषणा, विवेक तथा स्वतंत्रता। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है—इच्छा, विवेक तथा क्रिया—ये तीनों ही चेतना के आयाम हैं। एक ओर इच्छा और विवेक है तो दूसरी ओर स्वतंत्रता, जो अपने को कर्त्तव्य में व्यक्त करना चाहती है। चेतना का मूल रूप स्वतंत्रता है। अत: वह सीमित विषयों में बंधन और अभाव का अनुभव करती है। इसी पूर्ति के लिए वह पूर्णता की खोज करती है। मूल्यज्ञान, मूल्य की खोज तथा मूल्य साधन मानव चेतना का स्वभाव है। अत: मानव इच्छा करता है। विवेक यह निर्धारण करता है कि इच्छा ग्रहण करने योग्य है अथवा त्यागने

योग्य है। यदि इच्छा उचित है, ग्रहण करने योग्य है तो फिर क्रिया होती है अर्थात् मानव उसे अपने आचार-व्यवहार का अंग बनाता है। व्यक्ति जिस विषय को चुनता है अथवा जिसकी इच्छा करता है लेकिन क्रिया नहीं करता है अथवा उसे ग्रहण नहीं करता है तो वह विषय मूल्य की श्रेणी में नहीं आ सकता है। जो विषय इष्ट हो, साध्य हो, वही मूल्य की श्रेणी में आ सकता है।

कहा जाता है मूल्य ग्रहण किये जाते हैं न कि उन्हें थोपा जाता है। जब तक व्यक्ति अपनी इच्छानुरूप उन्हें अनुभव के स्तर पर नहीं ले जाता है तब तक यह नहीं कहा जा सकता है कि व्यक्ति के जीवन में मूल्यों का स्थान है। यदि व्यक्ति विवेकपूर्ण ढंग से उचित अनुचित का निर्णय लेकर मूल्यों को अपने जीवन में स्थान देता है तो वास्तव में उसका व्यवहार सराहनीय होता है। यों तो व्यक्ति देह के भय से या स्वेच्छा से भी कुछ-कुछ मूल्यों का पालन करता ही है। फिर भी विवेक चेतना से परख कर चयन किए मूल्यों का सुख कुछ और ही होता है। मूल्यों में निर्णय का गुण निहित रहता है। यही निर्णय व्यक्ति को किसी कार्य को करने या न करने की प्रेरणा देता है। अत: कहा जा सकता है कि किसी वस्तु, क्रिया, विचार को अपनाने या त्यागने का निर्णयात्मक विचार ही मूल्य है। ये मूल्य जब आत्मसात् किये जाते हैं तभी ये जीवन के आदर्श बनते हैं।

2.0 मूल्य का अर्थ

मूल्य शब्द अपने आप मूल्यवान है क्योंकि मूल्य श्रेष्ठ विचार के रूप में होते हैं और व्यवहार के रूप में प्रकट होते हैं। सामान्यतया मूल्य शब्द अंग्रेजी के value शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है। इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के velere (वैलेर) शब्द से मानी जाती है। इसका अर्थ किसी वस्तु की कीमत अथवा उपयोगिता से लगाया जाता है। भारतीय धर्म ग्रंथों में मूल्यों के लिए 'शील' शब्द का उपयोग किया गया है। इसे मूल्य शब्द का पर्यायवाची तो नहीं कहा जा सकता है लेकिन उसका करीबी कहा जा सकता है। शील शब्द का उपयोग चरित्र के लिए किया गया है। इस प्रकार मूल्य का संबध हमारे आचार-व्यवहार से लगाया जा सकता है। आचार-व्यवहार में अधिकाधिक अच्छाइयाँ ही मूल्य को प्रदर्शित करती हैं। वस्तुत: मूल्य एक मानक है। यही मानक व्यक्ति को अच्छे कर्म के लिए प्रेरित करता है।

3.0 परिभाषाएँ

मूल्य की निम्न परिभाषाएँ हैं—

सी.वी. गुड के अनुसार—''मूल्य वह चारित्रिक विशेषता है जो मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सौन्दर्यबोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। लगभग सभी विचार मूल्यों के अभीष्ट चरित्र को स्वीकार करते हैं।''

आलपोर्ट के अनुसार—''मूल्य एक मानव विश्वास है जिसके आधार पर मनुष्य वरीयता प्रदान करते हुए कार्य करता है।''

जैक आर. फ्रैंकल के अनुसार—''मूल्य आचार-सौन्दर्य-कुशलता या महत्त्व के मापदंड हैं, जिनका लोग समर्थन करते हैं, जिनके साथ वे जीते हैं, जिन्हें वे कायम रखते हैं।''

जेम्स पी. शेवर तथा विलियम स्ट्रांग के अनुसार—''मूल्य महत्त्व के बारे में निर्णय के मानदंड व नियम हैं। ये वे मानदंड हैं जिनसे हम चीजों (लोगों, वस्तुओं, विचारों, क्रियाओं तथा परिस्थितियों) के अच्छा, महत्त्वपूर्ण व वांछनीय होने अथवा खराब, महत्त्वहीन व तिरस्करणीय के बारे में निर्णय करते हैं।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल्य एक चारित्रिक विशेषता है। इस विशेषता के आधार पर ही सही और गलत में भेद कर सही को ग्रहण किया जाता है तथा गलत को त्याग दिया जाता है। **अत: मूल्य हमारे आचार-व्यवहार के नियामक तत्त्व हैं जो हमें लक्ष्य प्राप्ति की ओर प्रेरित करते हैं।**

3.0 मूल्य की प्रकृति

मूल्य की प्रकृति को निम्न तीन प्रचलित मतों के आधार पर समझा जा सकता है—

3.1 आत्मनिष्ठ मत—इस मत के अनुसार मूल्य इच्छा, रुचि, पसंद, मेहनत करने, संकल्प-शक्ति, कार्य तथा सन्तोष जैसे बहुल कारकों पर निर्भर होते हैं। अर्थात् मूल्य के लिए व्यक्ति की इच्छा आवश्यक होती है तो उसे अपनाने में **रुचि** का होना भी आवश्यक है। रुचि होने पर भी व्यक्ति उन्हें अपने जीवन-व्यवहार में कितना उतार पाता है, यह अलग बात है। जीवन-व्यवहार

में उतारने हेतु **संकल्प** का होना भी आवश्यक है। संकल्प लेने पर **क्रियान्विति** महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। केवल मूल्य की इच्छा करना ही मूल्य प्राप्ति नहीं है। इच्छा तो प्रेरक बिन्दु है। इच्छा से मूल्यों की प्राप्ति तक की यात्रा के अनेक पड़ाव हैं जिनको पार कर लक्ष्य तक पहुंचना ही **सन्तोष** या सुख देता है। जब व्यक्ति के जीवन में ये सभी कारक होते हैं तभी उसके भीतर मूल्यों का विकास हो सकता है। ये मूल्य व्यक्ति के अनुभवों से अत्यधिक जुड़े रहते हैं। आत्मनिष्ठ मत के अनुसार उपरोक्त विभिन्न कारक ही मूल्य विकास के आधार हैं। यदि ये कारक व्यक्ति के जीवन में न हों तो मूल्य भी उस व्यक्ति से दूर रहेंगे। अर्थात् मूल्यों का विकास इन कारकों का ही परिणाम है जिसका संबंध व्यक्ति के अनुभवों से भी होता है।

यों तो व्यक्ति की अनेक इच्छाएँ हैं, अनेक रुचियाँ हैं लेकिन वे सभी मूल्य का स्थान नहीं लेती हैं। मूल्य का स्थान वही लेते हैं जिन्हें व्यक्ति वास्तव में अपने जीवन व्यवहार का अंग बनाता है, उन्हें आत्मसात् करता है। आत्मसात् की प्रक्रिया प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान रूप से लागू नहीं होती है। इसका कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति में व्यावहारिक स्तर में अनेक प्रकार की विभिन्नता देखने को मिलती है। रुचि, विचार आदि का भेदभाव होता है। इस कारण से व्यक्ति की ग्रहणशीलता प्रभावित होती है अर्थात् व्यक्ति जीवन में क्या ग्रहण करे या त्यागे—यह व्यक्ति में भिन्न-भिन्न रूपों में देखने को मिलता है। आत्मनिष्ठ मत इच्छा, रुचि, क्रिया आदि जैसे कारकों को मूल्य हेतु महत्त्वपूर्ण मानता है। यह स्पष्ट भी है कि व्यक्ति के भीतर में ही इन मूल्यों के बीज निहित हैं। आवश्यकता है उन्हें खोजने की, पहचानने की तथा क्रियान्विति की। अत: **आत्मनिष्ठ मत व्यक्ति के भीतर ही मूल्य का स्रोत मानता है।**

3.2 वस्तुनिष्ठ मत—इसके अनुसार मूल्य व्यक्ति से स्वतंत्र होते हैं बल्कि व्यक्ति में निहित नहीं होते हैं। इस मत के अनुसार मूल्यों का स्वतंत्र अस्तित्व है तभी तो व्यक्ति के जीवन-व्यवहार में इनकी विभिन्नता देखने को मिलती है। यदि ये व्यक्ति के भीतर में निहित होते तो सबके व्यवहार में लगभग समान रूप से लागू होते लेकिन ऐसा नहीं है। वस्तुनिष्ठ मत व्यापक स्तर का अध ययन करता है। व्यापक स्तर पर देखने पर मूल्यों की एकरूपता देखने को नहीं मिलती है। अत: यह कहा जा सकता है कि मूल्य अर्जित होते हैं अथवा इन्हें सीखा जाता है, ग्रहण किया जाता है। ये व्यवहार के अंग बनते हैं। मूल रूप से अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। व्यक्ति इन्हें अपने व्यवहार का अंग बनाए या न बनाए, यह उस पर निर्भर करता है।

3.3 आपेक्षिकीय मत—इस मत के अनुसार मूल्य व्यक्ति तथा उसके वातावरण के मध्य संबंध हैं। मूल्य अंशत: तो भावना है तथा अंशत: तर्क है। अर्थात् मूल्य भावना एवं तर्क का मिला-जुला रूप है। व्यक्ति अपने वातावरण से जुड़ा रहता है। इस वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने की भावना भी व्यक्ति में कुछ-न-कुछ अंशों में होती है। अर्थात् व्यक्ति **अच्छे की कल्पना करता है, उसके लिए प्रयास करता है।** ऐसी भावना ही नहीं होती तो फिर व्यक्ति सुधार की ओर प्रस्थान ही नहीं करता, अच्छाई को जीवन में स्थान ही नहीं देता लेकिन ऐसा नहीं है। व्यक्ति के भीतर मूल्यों के बीज निहित होते हैं और उसी के अनुरूप जीवन व्यवहार निर्धारित होता है। दूसरी ओर व्यक्ति तर्क के आधार पर भी इन्हें ग्रहण करता है। मूल्य स्वयं तर्क है। तर्क उचित-अनुचित की भेदरेखा को बताता है, उपयोगिता-अनुपयोगिता को स्पष्ट करता है। व्यक्ति वातावरण के साथ संबंध स्थापित करने के लिए क्या करे तथा क्या नहीं करे, किसे महत्त्व दे, किसे महत्त्व नहीं दे—इसका निर्धारण तर्क के आधार पर ही हो सकता है। जब व्यक्ति तर्क के आधार पर अच्छे-बुरे को स्पष्ट कर अच्छाई को महत्त्व देता है तथा बुराई को त्यागता है तभी वातावरण भी सुखमय बनता है। यह मत मूल्य को इसीलिए भावना-प्रधान नहीं मानता है। केवल भावना में बहकर किसी को अपनाना या त्यागना विवेक सम्मत नहीं है। तर्क भावना को भी टटोलता है, अध्ययन करता है तब भावना मूल्य का रूप ग्रहण करती है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि इच्छा है तो ज्ञान भी है। इच्छा होती है तो ज्ञान के आधार पर ही होती है। ज्ञान यह भी निर्धारित करता है कि अमुक इच्छा उचित है अथवा अनुचित। अत: इच्छा और ज्ञान—दोनों का अस्तित्व है। यह मत भी इसी तर्ज पर भावना और तर्क को व्यक्त करता है। **भावना का संबंध इच्छा से होता है तथा तर्क का संबध ज्ञान से होता है।** अत: इच्छा और ज्ञान भावना तथा तर्क एक ही मत को स्वीकार करते हैं।

इस मत की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह मत व्यक्ति तथा वातावरण के संबध को दर्शाता है। **जिस वातावरण के साथ व्यक्ति रहता है, उस वातावरण की अपनी कुछ सीमाएँ होती हैं, आवश्यकताएँ होती हैं तथा अपने कुछ नियम होते हैं। अत: स्वयं को समायोजित करने के लिए व्यक्ति का व्यवहार वातावरण के अनुकूल होना आवश्यक होता है।** ऐसा न होने पर व्यक्ति को इसका परिणाम भी भोगना पड़ता है। अत: व्यक्ति भय अथवा दण्ड से बचने हेतु भी मूल्यों को उचित मानता है। दूसरी ओर उचित-अनुचित का विचार कर जीवनोपयोगी व्यवहार को व्यक्ति महत्त्व देता है।

अत: कहा जा सकता है कि मूल्यों की प्रकृति के मत भिन्न-भिन्न होते हुए भी इनमें कुछ-न-कुछ समानता तथा असमानता दोनों ही देखने को मिलते हैं। मूल्य किसी व्यक्ति में जन्मजात होते हैं तो किसी में अर्जित। अपने वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए भिन्न-भिन्न आवश्यकताएँ होती हैं। अत: व्यक्ति कुछ-न-कुछ सीमा तक सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश तो करता ही है। कहीं दंड भय से करता है तो कहीं दूसरों को प्रसन्न रखने हेतु करता है। ऐसा व्यवहार छोटे बच्चों में भी पाया जाता है। वह कभी स्वार्थ को महत्त्व देता है तो कभी समूह को। वह जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है, उसके भीतर मूल्यों का भी भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलता है। जिवन में एक समय ऐसा भी होता है कि व्यक्ति स्व-निर्णय के आधार पर जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप मूल्यों को महत्त्व देता है। इसमें न दंड का भय होता है, न ही पुरस्कार की आशा, वरन् **जीवन नीति परक नियमों के अंतर्गत स्व-चयनित होता है।** इसमें केवल व्यक्ति का हित ही नहीं जुड़ा रहता है वरन् व्यापक स्तर का हित जुड़ा रहता है। मूल्य संकुचित हित का त्याग तथा व्यापक हित को प्रधानता देते हैं। अत: मूल्य व्यक्तिगत स्तर से व्यापक स्तर की यात्रा है।

4.0 मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया

मूल्य निर्धारण प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके आधार पर किसी व्यवहार को मूल्य का दर्जा दिया जा सकता है, मूल्य की संज्ञा दी जा सकती है। अत: इसके लिए उस व्यवहार को कुछ महत्त्वपूर्ण मानदण्डों में से गुजरना होता है अथवा उन कसौटियों पर खरा उतरना होता है। इस प्रक्रिया में सात महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को स्थान दिया गया है। रथ, हर्मिन तथा साइमन (1966) का मानना है कि जब तक कोई बात सात मानदंडों पर खरी नहीं उतरती है तब तक हम उसे मूल्य की संज्ञा नहीं दे सकते हैं। ये सात मानदंड हैं—

4.1 स्वतंत्र चयन करना—ऐसा माना जाता है कि जब व्यक्ति स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक मूल्यों का चयन करता है तभी वह उन्हें अपने व्यवहार का अंग बनाता है। ऐसा वह केवल शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों की ही उपस्थिति में ही नहीं करता है वरन् अकेले में भी वे उसके व्यवहार का अंग होते हैं। प्राय: यह देखा भी जाता है कि व्यक्ति जिसे स्वयं चुनता है, उसी को महत्त्व देता है और उसी ओर उसका झुकाव रहता है। मानव व्यवहार परिवर्तनशील है। परिस्थिति विशेष पर उसका व्यवहार भी परिवर्तित होता है लेकिन व्यवहार में कुछ स्थिरता भी पाई जाती है जब व्यक्ति के जीवन में उसका कोई व्यवहार स्थायित्व ले लेता है। कहा गया है कि चेतना का स्वरूप स्वतंत्र है। वह बंधन नहीं चाहती है। व्यक्ति को यदि ऊपर से कहा जाए कि अमुक व्यवहार करना है, अमुक नहीं, यह कुछ हद तक तो संभव हो सकता है लेकिन पूर्ण रूपेण नहीं। अत: स्वतंत्र चयन महत्त्वपूर्ण है। बाध्यता व्यवहार को सही दिशा दे, आवश्यक नहीं है। बाध्यता व्यक्ति को कुंठित कर सकती है, तनावग्रस्त कर सकती है साथ ही अनेक निषेधात्मक भावधाराओं को जन्म दे सकती है। मूल्य में इनका कोई स्थान नहीं है। कहा भी गया है कि मूल्यों को ग्रहण किया जाता है न कि थोपा जाता है। यह स्पष्ट भी है कि थोपा हुआ व्यवहार अधिक समय तक नहीं चलता है। उसमें रुचि नहीं होती है, प्रसन्नता नहीं होती है, प्रेरणा नहीं होती है। अत: व्यक्ति का स्वतंत्र चयन अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। **स्वयं विचारपूर्वक किया गया चुनाव व्यक्ति को प्रसन्न रखता है, प्रेरित करता है तथा क्रियान्विति के स्तर तक लाता है जो बाद में जीवन का स्थाई अंग बन जाता है।**

4.2 विकल्पों में से चयन करना—व्यक्ति स्वयं ही मूल्य चुनता है। वह चुनाव विकल्पों के अभाव में संभव नहीं है। जब विकल्पों की अधिकता होगी तभी सार्थक चुनाव भी संभव हो सकेगा। अत: अधिकाधिक मूल्यों के होने पर व्यक्ति अपने अनुरूप, अपनी इच्छा के अनुरूप उनका चयन आसानी से कर सकता है। अत: विकल्प आवश्यक हैं। विकल्पों के होने पर व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक इनका चयन कर सकता है। सीमित विकल्प होने पर हो सकता है कि व्यक्ति चयन ही न करे। इसका कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति की रुचि, इच्छा आदि भिन्न-भिन्न होती हैं। स्वतंत्र चुनाव तभी संभव हो सकेगा जब उसकी अपनी इच्छानुसार, अपनी रुचि के अनुरूप विकल्प हों। विकल्प होने पर किसे वरीयता दें, किसे नहीं दें—यह उसका स्वतंत्र निर्णय होता है। यदि विकल्प न हो तो हो सकता है कि व्यक्ति इनका चुनाव ही न करें। अत: अधिक विकल्पों में चुनाव अधिक सार्थक हो सकेगा।

4.3 विचारपूर्वक चयन करना—विचारपूर्वक किया गया चयन व्यवहार को अच्छी तरह से निर्देशित करता है। क्षणिक आवेग में आकर मूल्यों का चयन कर लेना विवेकपूर्ण नहीं माना जाता है। यह स्पष्ट भी है कि जब व्यक्ति अपने जीवन में कोई भी निर्णय विचारपूर्वक करता है तो उसमें समस्या की संभावना बहुत कम होती है अथवा होती ही नहीं है। अत: मूल्यों के चयन के सन्दर्भ में भी यही बात लागू होती है कि उन्हें विचारपूर्वक चुना जाना चाहिए। जब तक मूल्य के महत्त्व को नहीं समझा जा सकेगा तब तक केवल अंधानुकरण ही हो सकता है। मूल्य का चुनाव करने के बाद भी उसका महत्त्व, उसकी उपयोगिता का

ज्ञान ही न हो तो वास्तव में वह मूल्य निर्धारण नहीं हो सकता है। **विचारपूर्वक चुनाव ही मूल्य की कसौटी बन सकता है।** विचार पूर्वक किया गया चयन ही व्यवहार का अंग सरलता पूर्वक बन सकता है। इसमें व्यक्ति को परिणामों की जानकारी होती है। अत: परिणाम को समक्ष रखकर किया गया चयन व्यवहार को उसी के अनुरूप निर्देशित करता है।

4.4 महत्त्व देना—किसी विषय को महत्त्व तब दिया जाता है जब वह रुचि, पसंद, इच्छा आदि द्वारा चयनित होता है। दूसरी ओर जब महत्त्व दिया जाता है तो प्रसन्नता भी होती है। सुखद अनुभव होने पर हम उसका आदर करते हैं, सम्मान करते हैं। अत: मूल्य को तब महत्त्व देते हैं जब हम उनके लिए किसी प्रकार से विवश नहीं हों। चयन स्वतंत्रतापूर्वक होता है। कहने का तात्पर्य है कि मूल्य चयन के बाद उसे महत्त्व देना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। केवल चयन तक की प्रक्रिया मूल्य नहीं बन सकती है। मूल्य एक आचार-व्यवहारगत विशेषता है। जब तक उसकी क्रियान्विति नहीं होगी तब तक उन्हें मूल्य नहीं कहा जा सकता है। अत: मूल्यों के चयन के बाद उनकी क्रियान्विति भी आवश्यक होती है। क्रियान्विति तब होती है जब उन्हें महत्त्व दिया जाता है, सम्मान दिया जाता है, उनका आदर किया जाता है अथवा उनकी कद्र की जाती है।

4.5 दृढ़तापूर्वक स्वीकारना—जब व्यक्ति विचारपूर्वक चयन करता है और महत्त्व भी देता है तो उसे प्रसन्नता भी होती है। व्यक्ति को अपने इस चुनाव पर गर्व भी होता है। यह गर्व व्यक्ति को दृढ़ता प्रदान करता है। अर्थात् वह दृढ़तापूर्वक इन मूल्यों की पुष्टि करता है जो आदर्श व्यक्ति द्वारा चयन किया गया है। वह व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहता है वरन् सबके समक्ष रहता है। व्यक्ति में किसी प्रकार की शर्म अथवा संकोच का भाव नहीं रहता है। अर्थात् व्यक्ति दृढ़ होकर इनको स्वीकार करता है क्योंकि उसके पास तर्क हैं, विश्वास है, योग्यता है, क्षमता है तथा साहस है। दृढ़तापूर्वक स्वीकार करने पर इनमें शिथिलता नहीं आती है। व्यक्ति कमजोर नहीं होता है। आत्मविश्वासी रहता है।

4.6 क्रियान्विति करना—मूल्य व्यक्तिगत जीवन को प्रभावित करते ही हैं साथ ही वे व्यक्ति के दैनिक व्यवहार में भी देखे जाते हैं। अर्थात् मूल्य क्रियान्विति के द्वारा ही व्यक्त होते हैं। यह मूल्य निर्धारण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। व्यक्ति जब मूल्य का निर्धारण स्वयं करता है तो वह प्रत्येक परिस्थिति में मूल्यों को आत्मसात् किये रखता है। **क्रियान्विति के द्वारा ही मूल्य जीवन के आदर्श बनते हैं।** महत्त्वपूर्ण माने गए विषय को केवल खोखले आदर्श तक ही सीमित नहीं रखा जाता है वरन् व्यक्ति इसके प्रति अपना समय, अपनी शक्ति का भी उपयोग करता है। ये मूल्य व्यवहार का अंग बन जाते हैं। केवल सैद्धान्तिक ही नहीं होते वरन् जीवन के क्षेत्र में इनके व्यावहारिक प्रयोग भी होते हैं।

4.7 पुनरावृत्ति करना—मूल्यों की पुनरावृत्ति भी होती रहनी चाहिए। मूल्यों में स्थायित्व का गुण पाया जाता है लेकिन क्रियान्विति में स्थायित्व नहीं होता है। जो मूल्य एक बार जीवन का अंग बन जाता है, वह जीवन पर्यन्त साथ रहता है। ऐसा न हो कि सीमित बार ही इनकी क्रियान्विति की जाए। इसके विपरीत जीवन व्यवहार में इनकी पुनरावृत्ति होनी आवश्यक होती है। अत: मूल्यों में पुनरावृत्ति का गुण पाया जाता है। जब कोई मूल्य कुछ परिस्थितियों तक ही सीमित रहते हैं अथवा चयनित परिस्थितियों के ही अंग मात्र होते हैं तो वे मूल्य की श्रेणी में नहीं आते हैं। मूल्य तो सतत् चलने वाली प्रक्रिया है। एक सतत् व्यवहार है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अभिव्यक्त होते हैं।

उपरोक्त मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया से यह स्पष्ट होता है कि मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया चयन से प्रारंभ होकर पुनरावृत्ति तक की यात्रा है। चयन के आधार पर ही विभिन्न स्तरों से गुजर कर मूल्य वास्तव में व्यवहार के स्थाई अंग बन जाते हैं जिसका सुखद प्रभाव व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक जीवन दोनों पर ही पड़ता है। अत: मूल्य व्यक्ति स्तर से सामाजिक जीवन तक की यात्रा हैं। सीमित से व्यापक की ओर प्रस्थान हैं। स्वार्थ से परमार्थ तक का मार्ग हैं, भोग से त्याग का मार्ग हैं जिनमें असीम आनन्द समाहित है।

बोध प्रश्न

---

1. मूल्य संकल्पना के कितने घटक हैं?
2. मूल्य का क्या अर्थ है?
3. आलपोर्ट ने मूल्यच की क्या परिभाषा दी है?
4. मूल्य की प्रकृति में प्रचलित मत कितने हैं?
5. मूल्य-निर्धारण की प्रक्रिया के कितने मानदण्ड हैं?

5.0 मूल्यों के लक्षण

मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया के बाद मूल्यों के लक्षणों को भी प्रकाशित किया जाता है। अत: मूल्यों के निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

1. मूल्य किसी वस्तु, विषय अथवा व्यवहार आदि के महत्त्व के बारे में विचार हैं।
2. मूल्य अमूर्त्त होते हैं लेकिन व्यवहार के द्वारा प्रकट होते हैं।
3. मूल्य ज्ञानात्मक, अनुभवात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष हैं। अर्थात् मूल्य में ज्ञान, अनुभव एवं क्रियापक्ष विद्यमान रहता है।
4. मूल्य एक सांवेगिक वचनबद्धता है। अर्थात् व्यक्ति जिन मूल्यों को महत्त्व देता है, पसंद करता है, वह उन्हें सुरक्षित भी रखता है। ऐसा नहीं है कि जब चाहे त्याग देता है और जब चाहे ग्रहण कर लेता है।
5. मूल्यों का अस्तित्व व्यक्ति में निहित होता है।
6. मूल्य तर्क प्रधान तथा भावना प्रधान होते हैं साथ ही इनमें क्रियान्विति के गुण का भी समावेश होता है।
7. मूल्य चिन्तनपूर्वक ग्रहण किये जाते हैं तथा उसकी के द्वारा प्रकट होते हैं।
8. मूल्यों को मानदंड के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।
9. मूल्य जीवन की जटिल परिस्थितियों में क्रियाशील होते हैं।
10. मूल्यों में संतुलन का गुण निहित रहता है।
11. मूल्य स्वयं के संरक्षक होते हैं। अर्थात् मूल्य सही-गलत में निर्णय लेकर सही का अनुसरण करवाते हैं तथा स्वयं की सुरक्षा करते हैं।
12. मूल्यों में परिस्थिति के साथ समायोजन करने तथा आत्मानुभूति की भूमिकाओं के निर्वहन का गुण पाया जाता है।
13. मूल्य कभी-कभी विशुद्ध व अमूर्त्त रहकर भी कार्य करते हैं।
14. मूल्यों का मापन किया जा सकता है।
15. मूल्य विश्वास तथा आचरण के रूप में होते हैं जो वैयक्तिक एवं सामूहिक चयन के मानक हैं।
16. मूल्य भिन्न-भिन्न व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न रूप में लागू होते हैं।
17. मूल्य सकारात्मक प्रेरक तत्त्व होते हैं जिनमें लक्ष्य प्राप्ति का गुण निहित रहता है।
18. मूल्य जीवन-व्यवहार के आदर्श होते हैं।

6.0 मूल्य खोज के प्रयास

समय के साथ-साथ मूल्य भी बदलते रहते हैं। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक की यात्रा में मूल्यों का आरोहण तथा अवरोहण का क्रम देखा जा सकता है। अर्थात् कभी तो मूल्यों के विकास का समय रहा तो कभी ह्रास का। समय के साथ कभी मूल्य विकसित हुए तो कभी कम हो गए। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत सत्य होता है फिर भी परिवर्तन के क्रम में कुछ-कुछ सिद्धांत, कुछ मान्यताएँ, परम्पराएँ यथावत रहती हैं। इसका कारण यह है कि वे व्यक्ति के जीवन में आवश्यक एवं अनिवार्य अंग होते हैं जिन पर उसका वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास टिका रहता है, सुरक्षित रहता है। अत: मूल्य व्यक्ति की एक आवश्यकता है, अनिवार्यता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मूल्यों की दिशा तथा दशा देखने पर संतुष्टिजनक मत नहीं दिया जा सकता है। अत: इन्हें पुन: स्थापित करने की आवश्यकता महसूस की जा रही है। इस आवश्यकता की पूर्ति कैसे संभव होगी—इसके लिए विचारकों ने अनेक प्रकार के मूल्यों को निश्चित किया है तथा उन्हें वर्गीकृत भी किया है। आवश्यकता है मूल्यों को खोजकर उन्हें जीवन का अंग बनाया जा सके। अत: मूल्य खरीदे नहीं जा सकते, मूल्य स्वयं निर्धारित किये जाते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति को मूल्यों का ज्ञान हो। इस ज्ञान के अनेक साधन हो सकते हैं। इन साधनों के द्वारा व्यक्ति मूल्यों को समझ सकता है, विश्लेषित कर सकता है तथा उचित-अनुचित का भेद कर सकता है। अत: मूल्यों की खोज भी आवश्यक हो जाती है कि मूल्य कहां, किस रूप में अपने अस्तितव को प्रकट करते हैं। मूल्य खोज के प्रयास में निम्न बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक माना जा सकता है—

6.1 दर्शन

दर्शन किसी भी विषय की सूक्ष्म व्याख्या करता है। अत: जीवन भी इससे अछूता नहीं रहा है। जीवन क्या है, जीवन व्यवहार में अच्छा क्या है, बुरा क्या है, क्या ग्रहण करने योग्य है, क्या छोड़ने योग्य है—इन सब पर दर्शन की छाप पड़ी है। ये बिन्दु ही व्यक्ति की जिज्ञासा का केन्द्र भी रहे हैं। कभी व्यक्ति अपनी जिज्ञासा का समाधान पा लेता है तो कभी वह इसमें प्रयासरत रहता है। व्यक्ति अपने अध्ययन का केन्द्र बिन्दु स्वयं है। अत: उसके सामने यह जटिल समस्या भी बनी रहती है कि वह अपने आपको परिभाषित करे। अपनी प्रकृति को स्पष्ट करे। वस्तुत: किसी वस्तु अथवा व्यवहार में उसका मूल्य प्रतिबिम्बित रहता है और होना भी चाहिए। जैसे अग्नि में उष्णता तथा जल में शीतलता का गुण विद्यमान रहता है। यदि इनमें ये विशेषताएँ नहीं होती तो ये मूल्यविहीन होते क्योंकि इनमें अपने यथार्थ स्वरूप का बोध कराने का गुण नहीं होता। अत: मूल्य ही किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराते हैं। दर्शन का एक विचारणीय पक्ष मूल्य-मीमांसा रहा है। इस पर भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने अध्ययन किया है। शिक्षा के क्षेत्र में व्यक्तिगत विकास हेतु मुख्यतया चार वादों, यथा—प्रकृतिवाद, प्रयोजनवाद, अस्तित्ववाद (यथार्थवाद) तथा मानवतावाद (आदर्शवाद) को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

1. प्रकृतिवाद—प्रकृतिवाद प्रकृति को पूर्ण वास्तविक मानता है। इसके आधार पर प्रकृति में होने वाली कोई भी घटना समान नियमों के आधार पर होती है। प्रकृतिवाद भौतिक जगत्, जीवन जगत् तथा देशकाल का समय प्रपंच आदि अर्थों में व्याख्यायित किया जाता है। प्रकृतिवादी मानते हैं कि व्यक्ति के समक्ष बाह्य और आन्तरिक दो प्रकार की प्रकृतियाँ हैं। अत: इन दोनों को ध्यान में रखते हुए सीखने का प्रयास करना चाहिए। प्रकृतिवादी मानते हैं कि सामान्य जीवन मूल्य तथा प्राप्य जीवन मूल्यों का स्थान प्रकृति ही है। प्रकृतिवाद के अनुसार सुख ही उच्चतम श्रेय है। इसीलिए उसे नैतिक नियमों का अधिकारिक महत्त्व प्राप्त है।

2. प्रयोजनवाद—प्रयोजन किसी पूर्व निर्धारित सत्य को स्वीकार नहीं करता है। प्रयोजनवाद का मानना है कि मूल्यों का अस्तित्व व्यक्तिगत और सामाजिक क्रियाओं के पारस्परिक संबंध के सन्दर्भ में होता है। उनका अस्तित्व उसी सीमा तक होता है जिस सीमा तक वे घटनाओं के व्यक्तिगत-सामाजिक प्रवाह को प्रवाहित करते हैं अथवा प्रभावपूर्ण क्रियाशीलता के साथ जुड़े होते हैं। प्रयोजनवाद का यह भी आग्रह है कि मूल्यों की समीक्षात्मक परीक्षा अवश्य की जानी चाहिए जिससे चयन का कोई संगत सिद्धान्त क्रियाशील हो सके।

3. अस्तित्ववाद (यथार्थवाद)—अस्तित्ववाद प्रत्यक्ष रूप से दिखने वाले जगत को सत्य मानता है। अर्थात् सत्य भौतिक जगत् की वस्तुओं तथा घटनाओं में निहित है। अस्तित्ववादियों में मूल्य के संबंध में कम से कम दो सामान्य सिद्धान्त हैं। पहले सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति अनेक गुणों का अनुभव करता है। उनमें से कुछ को महत्त्व देता तथा कुछ को नहीं। महत्त्व देना या न देना मूल्य के गुण पर निर्भर करता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु के अधिक मूल्यांकन करने के कारण व्यक्ति की उसमें रुचि विशेष होती है।

4. मानवतावाद—इस वाद में मनुष्य को केन्द्र में माना गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति अपनी बुद्धि द्वारा लोकतांत्रिक शक्ति की सहायता से स्व हित हेतु एक तर्कसंगत सभ्यता का निर्माण कर सकता है। इस सिद्धान्त का मानना है कि जीवन मूल्यों का निर्माण मानवीय संबंधों के परिणामस्वरूप हुआ है।

उपरोक्त विचारधाराओं ने मूल्य मीमांसा भिन्न-भिन्न ढंग से की है। अत: कहा जा सकता है मूल्य का संबंध व्यक्तिगत जीवन तथा पर्यावरण से है। इन दोनों के सामंजस्य से ही मूल्य को विकसित होने का अवसर मिलता है।

6.2 विचार

मूल्य विषयक अनेक विचार भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने व्यक्त किए हैं जो निम्न हैं—

1. प्लेटो के अनुसार—1. मूल्य बुद्धिग्राह्य अर्थ है न कि इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ। अर्थात् मूल्य को बुद्धि, ज्ञान, विवेक के आधार पर ग्रहण किया जाता है। इन्द्रियों की इसमें कोई भूमिका नहीं होती है।

2. मूल्य और सत् का मौलिक अभेद है। अर्थात् दोनों का मूल रूप एक ही है।

3. मूल्य निरपेक्ष, नित्य स्वरूप सत् विषय हैं।

2. अरस्तु के अनुसार—मनुष्य सहज सुख चाहता है। किसी भी विषय को अपनी प्रवृत्ति का लक्ष्य बनाने में वह उस विषय की प्राप्ति के लिए सुख की आशा करता है। दु:ख से मुक्त सुख की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है।

3. हीगल, मार्क्स, काण्ट आदि ने मूल्यों को विभिन्न रूपों के विकास अथवा सृजन की प्रक्रिया के अन्तर्गत माना है।

4. ह्यूम और सिजविक ने मनुष्य के नैतिक जीवन को द्वंद्वात्मक प्रवृत्तियों का विकास निरूपित कर यथार्थ एवं परार्थ का सहज बोध माना है।

5. लाओत्से ने सत्यम् शिवम् सुन्दरम् को दार्शनिक बोध का मुख्य विषय माना और मुख्य जगत् को ही वस्तु जगत् का आधार निश्चित किया है।

6. कांट के अनुसार—कम से कम दो नैतिक मूल्य हैं जो स्वयं की अस्तित्व में जड़ें जमाए हुए हैं। ये हैं व्यक्ति और नैतिक नियोग। अर्थात् व्यक्ति और उसके भीतर निहित गुण जो उसकी प्रकृति का हिस्सा होते हैं।

चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी दर्शन का मत है कि वही कार्य मूल्य है जो हमें लौकिक बंधनों से मुक्ति दिलाने में समर्थ हो। मोक्ष ही मूल्य परक आचरण का परिणाम है। **राजगोपालाचारी** का विश्वास था कि चरित्र निर्माण नैतिक शिक्षा से संभव है और उसी के आधार पर राष्ट्र का विकास संभव है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस का विचार था कि—चरित्रवान बनो। जगत् अपने आप मुग्ध हो जायेगा। **महात्मा गांधी** ने कहा था कि ज्ञान का अंतिम लक्ष्य चरित्र निर्माण है।

6.3 समाज

समाज व्यक्तियों का ऐसा समूह है जहां आपसी मेल-मिलाप व अच्छा आचरण आवश्यक होता है। इसी गुण के कारण ही व्यक्ति अपनी परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकता है। अच्छे आचरण के द्वारा ही उसे समाज में पद, प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान प्राप्त होता है। समाज आपसी संबंधों का जाल होता है। अत: इसमें एक नहीं अनेक मूल्य निहित रहते हैं। सहयोग, सहानुभूति, करुणा, मैत्री, कर्त्तव्यनिष्ठा न जाने कितने ही मूल्य सामाजिक जीवन के अंग हैं। यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह उन्हें अपने जीवन में कितना स्थान दे।

प्रत्येक समाज के कुछ मानक होते हैं, कुछ आचार संहिताएँ होती हैं। ये आचार-संहिताएँ सामाजिक जीवन का मार्गदर्शन करती हैं। व्यक्ति इनका पालन या तो भय से करता है या स्वेच्छा से करता है। वास्तव में ये आचार-संहिताएँ ही व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करती हैं। इन नियमों की अवहेलना होने पर दंड की व्यवस्था भी होती है। दण्ड व्यवस्था सामाजिक स्तर की होती है और कानूनी स्तर पर भी होती है। उदाहरणार्थ—सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति का सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि मूल्यों का पालन व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मूल्यों की दशा सोचनीय बनी हुई है। इन्हें पुन: स्थापित करने हेतु सामाजिक सन्दर्भ में इन्हें खोजना आवश्यक हो जाता है।

(क) धर्म—शायद ही कोई ऐसा धर्म हो जिसमें मूल्यों की बात न की गई हो। अर्थात् विश्व के सभी धर्म मूल्यों से ओत-प्रोत रहे हैं। यह अलग बात है कि कुछ मान्यताएँ, परम्पराएँ एवं सिद्धान्त रूढ़ हो गए हों। फिर भी सभी धर्म मूल्यों की ही शिक्षा देते हैं। भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्ष होने की विशेषता पाई जाती है। अर्थात् व्यक्ति किसी भी धर्म का पालन कर सकता है, उसके मूल्यों को आत्मसात् कर सकता है तथा उन्हें अपने जीवन का आदर्श बना सकता है।

(ख) संस्थाएँ—अनेक संस्थाएँ मूल्यों के विकास में आगे आई हैं। ये संस्थाएँ अनेक क्रियाकलापों के द्वारा मूल्यों को हस्तान्तरित करती हैं।

(ग) साहित्य—कहा गया है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। जिस समय जैसा समाज होता है, उस समय वैसा ही प्रतिबिम्ब साहित्य पर प्रभाव डालता है। यदि प्राचीन साहित्य की बात की जाए तो हमारे प्राचीन साहित्य मूल्यों से ही ओतप्रोत रहे हैं। वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, गीता, आगम, त्रिपिटक, बाइबिल, कुरान आदि प्राचीन ग्रंथों में मूल्य विषयक सामग्री विद्यमान है। अत: मूल्यों की खोज कठिन कार्य नहीं है। विद्वानों ने साहित्य के माध्यम से व्यक्ति को मार्गदर्शन किया है।

इनके अतिरिक्त भी शिक्षा जगत् के पाठ्यक्रमों में भी मूल्य-विषयक सामग्री की प्रचुरता है। आवश्यकता है कि इन मूल्यों

को समझकर शिक्षा जगत् में इनका सही तरह से हस्तान्तरण किया जाए। अनेक पाठ्य-पुस्तकें हैं जिनमें कविता, कहानी, गद्यांश, नाटक, एकांकी आदि के द्वारा मूल्य को देने का प्रयास किया है। यह शिक्षकों का दायित्व होता है कि वह इन मूल्यों को कितने सुन्दर और सुरुचिपूर्ण ढंग से विद्यार्थी जगत् को परोसे।

अत: कहा जा सकता है कि मूल्य खोज का प्रयास करने से अनेक मूल्य स्पष्ट होते जाएँगे। इन मूल्यों की खोज से शिक्षा जगत् को मूल्य शिक्षा देने में बहुत सहायता मिल सकेगी।

बोध प्रश्न

1. मूल्य कब क्रियाशील होते हैं?
2. दर्शन किसकी व्याख्या करता है?
3. प्रकृतिवाद प्रकृति को क्या मानता है?
4. काण्ट के अनुसार दो नैतिक मूल्य कौन-से हैं?
5. समाज का दर्पण क्या होता है?

7.0 मूल्यों का वर्गीकरण

मूल्य एक नहीं, अनेक हैं। जीवन व्यवहार के जितने क्षेत्र हैं उतने मूल्य भी बन जाते हैं। सुविधा की दृष्टि से मूल्यों को निम्न भागों में बांटा जा सकता है—

7.1 वैयक्तिक मूल्य—व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन के मूल्य ही वैयक्तिक मूल्य हैं। वैयक्तिक मूल्य प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह किसे चुने, किसे नहीं, किसे अपने व्यवहार में महत्त्व दे, किसे नहीं। अत: ये मूल्य प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा तथा आवश्यकता पर निर्भर होते हैं। यों तो वैयक्तिक मूल्य ही सामाजिक जीवन में विस्तृत होते हैं। अर्थात् इन मूल्यों के द्वारा व्यक्ति सामाजिक सामंजस्य स्थापित कर सकता है। इनका संबंध व्यक्तिगत गुणों से भी होता है। ये गुण ही उसके व्यवहार के अंग बनकर मूल्य में परिवर्तित हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य भी भिन्न-भिन्न होता है। अत: अपने लक्ष्य के अनुरूप व्यक्ति अपने मूल्यों को निर्धारित करता है। कुछ मूल्य प्रत्येक व्यक्ति में समान रूप से भी लागू होते हैं। एक तरफ व्यक्ति के गुण हैं, दूसरी तरफ उसके मूल्य, परिश्रम, स्वाध्याय, स्पष्टवादिता, समय की पाबन्दी, सहन सिलता, धैर्य, आशावादिता, प्रसन्नता आदि न जाने कितने ही गुण व्यक्ति के जीवन में देखे जा सकते हैं। जब ये ही गुण वास्तव में व्यक्ति के जीवन व्यवहार के अंग बन जाते हैं और इनकी सुरक्षा करना कर्त्तव्य बन जाता है तो ये मूल्य की श्रेणी में आ जाते हैं। अत: वैयक्तिक मूल्य व्यक्ति के अपने लिए होते हैं जिनका प्रकटीकरण सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है।

7.2 पारिवारिक मूल्य—परिवार बच्चे की प्रथम पाठशाला मानी जाती है। बच्चा परिवार से ही अनेक मूल्यों को ग्रहण करता है। दूसरी ओर परिवार में मूल्यों का यथासंभव स्थान तो होता ही है। परिवार समाज की छोटी इकाई है। अत: परिवार के भी कुछ मूल्य निश्चित हैं जिनके आधार पर पारिवारिक ढांचा खड़ा होता है। जब इनका अभाव होता है तो पारिवारिक ढांचा गड़बड़ा जाता है। परिवार का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। अत: परिवार में मैत्री, करुणा, समायोजन, सहयोग, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि आधारभूत मूल्य होते हैं। इन मूल्यों के आधार पर पारिवारिक जीवन सुखद बनता है। पारिवारिक सदस्यों का एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। बड़ों का कर्त्तव्य है कि वे अपनी सन्तान को अच्छी शिक्षा दें। छोटों का कर्त्तव्य है कि बड़ों की आज्ञा का पालन करें। इस प्रकार मूल्यों को महत्त्व देने से ही पारिवारिक जीवन का सुख उठाया जा सकता है वरन् परिवार में रहकर भी मूल्यों के अभाव में जीवन का रंग फीका पड़ जाता है। अत: पारिवारिक मूल्य परिवार के आदर्श होते हैं।

7.3 सामाजिक मूल्य—समाज आपसी संबंधों का जाल है। इसके बिना जीवन विकास संभव नहीं हो सकता है। अत: प्रत्येक समाज के कुछ महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं जिनके आधार पर सामूहिक जीवन सुखपूर्वक जीया जा सकता है। समाज और व्यक्ति का अन्योन्याश्रित संबंध है। अर्थात् समाज और व्यक्ति एक-दूसरे पर निर्भर हैं। व्यक्ति अपने अहम् की संतुष्टि और अपनी इच्छाओं की पूर्ति समाज में रहकर ही करता है। व्यक्ति के व्यवहार का मूल्यांकन भी समाज ही करता है। अत: समाज कुछ मानक निर्धारित करता है। जिसके अनुरूप आचरण करना व्यक्ति तथा समाज के हित में होता है। सामाजिक मूल्यों में मुख्यतया सत्य, प्रामाणिकता,

कर्त्तव्यनिष्ठा, सामंजस्य, करुणा, सहयोग, मैत्री, अहिंसा, अचौर्य आदि महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं। ये मूल्य सामाजिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित बनाते हैं जिसमें व्यक्तिगत ही नहीं वरन् सामूहिक स्तर पर सुखद परिणाम प्राप्त होते हैं।

7.4 आर्थिक मूल्य—जीवन में अर्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि अर्थ ही व्यक्ति को भौतिक स्तर की वस्तुओं की पूर्ति करने में सहायक होता है। भोजन, वस्त्र, आवास जो मूलभूत आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति अर्थ के अभाव में संभव नहीं है। अर्थ का संबंध केवल रुपयों तक सीमित नहीं है वरन् वे समस्त भौतिक पदार्थ जो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, अर्थ के अन्तर्गत आते हैं। आर्थिक मूल्य व्यक्ति को अर्थ के क्षेत्र में आवश्यकता तथा उपयोगिता को स्पष्ट करता है। व्यक्ति में लोभ, लालच जैसी वृत्ति भी विद्यमान रहती है जिसके कारण व्यक्ति का आर्थिक क्षेत्र मूल्यविहीन हो जाता है। यह लोभ की वृत्ति व्यक्ति को अनैतिक कार्य करने से नहीं रोकती है। एक बुद्धिमान कहलाने वाला व्यक्ति भी आर्थिक क्षेत्र में पथभ्रष्ट हो जाता है। जीवन का यह क्षेत्र बहुत ही नाजुक है जहाँ एक नहीं अनेक व्यक्ति अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए अपने मूल्यों को तिलांजलि दे देते हैं। अत: आर्थिक क्षेत्र में प्रामाणिकता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मूल्य है। प्रामाणिकता का जीवन जीने वाला व्यक्ति बड़े से बड़े लालच, बड़े से बड़ा स्वार्थ सिद्ध होने पर भी पथभ्रष्ट नहीं होता है। अत: आर्थिक मूल्य व्यावसायिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण मूल्य है।

7.5 राजनैतिक मूल्य—राजनैतिक क्षेत्र में भी अनेक मूल्य निर्धारित हैं। जैसा राजा, वैसी प्रजा, अर्थात् राजा अच्छा होगा, नैतिक होगा, मूल्यों से ओत-प्रोत होगा तो प्रजा भी उसका अनुसरण करेगी। इसके विपरीत राजा ही प्रथभ्रष्ट होगा तो जनता पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा। शासक ही प्रजापालक होता है। प्रजा के हितों की सुरक्षा करना शासक का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। चिकित्सा, रोजगार, शिक्षा, न्याय आदि प्रजा की आवश्यकताएँ होती हैं। इनकी समुचित पूर्ति होने पर व्यक्ति का व्यवहार संतुलित रहता है, सुखी रहता है। अत: राजनैतिक मूल्यों में कर्त्तव्यनिष्ठा, न्याय, प्रामाणिकता, अहिंसा आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

7.6 राष्ट्रीय मूल्य—जिस राष्ट्र में व्यक्ति निवास करता है तथा जहाँ से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, उसके लिए व्यक्ति के अनेक कर्त्तव्य होते हैं। अपने राष्ट्र के प्रति सम्मान, सुरक्षा, देशप्रेम, त्याग की भावना आदि महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं जो किसी राष्ट्र की प्रगति में सहायक होते हैं। राष्ट्र के नागरिकों का चरित्रवान होना महत्त्वपूर्ण पक्ष है जो राष्ट्रीय दिशा और दशा को निर्धारित करता है।

7.7 सांस्कृतिक मूल्य—संस्कृति व्यक्ति के जीने का ढंग होती है। प्रत्येक समाज की संस्कृति भी भिन्न होती है क्योंकि प्रत्येक समाज, प्रत्येक गांव तथा प्रत्येक राज्य के लोगों की जीवनशैली समान नहीं होती है। फिर भी हमारी संस्कृति में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व निर्धारित हैं जो अनेकता में एकता का परिचय कराती हैं। कहा भी गया है कि भारतीय संस्कृति अनेकता में एकता लिये हुए है। भौगोलिक भेद, जातीय भेद, वर्णभेद, बौद्धिक पक्ष का भेद, खान-पान का भेद, भाषा भेद, पहनावे का भेद, न जाने कितने ही भेद हैं हमारी संस्कृति में। इतना होते हुए भी एक-दूसरे के प्रति सम्मान, आकर्षण तथा मेलजोल की भावना पाई जाती है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि उसमें सहनशक्ति, कर्त्तव्यनिष्ठा, मैत्री, करुणा, सहयोग न जाने कितने ही तरह के व्यवहार पाये जाते हैं। इन्हीं मूल्यों के आधार पर हमारी सांस्कृतिक विरासत दीर्घकाल से अविच्छिन्न बनी हुई है। इन मूल्यों के अभाव में सांस्कृतिक विरासत खतरे में पड़ जाती है तो इन्हीं मूल्यों को जीवनगत करने से संस्कृति की सुरक्षा होती है।

7.8 सौन्दर्यात्मक मूल्य—कला में सौन्दर्य होता है। अत: उस सौन्दर्य के महत्त्व को समझना भी जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है। हमारी प्रकृति में सौन्दर्य ही सौन्दर्य बिखरा है। इस सौन्दर्य को पहचानने, इसकी कद्र करने तथा इसे महत्त्व देने से प्रकृति की रक्षा हो सकती है। अत: सौन्दर्यात्मक मूल्यों का संबंध कला के क्षेत्र में होता है।

7.9 पर्यावरणीय मूल्य—हमारे चारों ओर का वातावरण पर्यावरण कहलाता है। यहां पर पर्यावरण का संबंध हवा, पानी, वनस्पति, जगत अथवा प्राकृतिक जगत से है। हमारा पर्यावरण हमें जीवन देता है। अत: इसके प्रति भी मूल्य अवश्य ही निर्धारित किये गए हैं। इस पर्यावरण की सुरक्षा करना व्यक्ति का कर्त्तव्य होता है। वनस्पति की रक्षा, प्रदूषण की रोकथाम आदि महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं जो पर्यावरण को सुरक्षित रखने में सहायक होते हैं।

7.10 आध्यात्मिक मूल्य—अध्यात्म हमारी संस्कृति की महत्त्वपूर्ण देन है। आध्यात्मिक मूल्य व्यक्ति को गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कराने में सहायक तो होते ही हैं साथ ही जीवन को चरित्रवान बनाने में सहायक होते हैं। अत: आध्यात्मिक मूल्य आत्मा जैसे गूढ़ विषय की खोज करते हैं तथा सत्य का साक्षात्कार कराते हैं।

7.11 वैश्विक मूल्य—वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भी मूल्यों का अपना विशेष योगदान है। विश्व स्तर पर शांति, सह—अस्तित्व, सुरक्षा तथा अहिंसा आदि महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं। इनके अभाव में विश्व का स्तर ही खतरे में पड़ जाता है। अत: वैश्विक स्तर पर सकारात्मक सोच से मनुष्य जाति ही नहीं वरन् प्राणी मात्र के अस्तित्व को समझने में सहायता मिलेगी।

7.12 शैक्षिक मूल्य—शिक्षा जगत् एक ऐसा क्षेत्र है जहां से मूल्यों के विकास के लिए औपचारिक रूप से प्रयास किया जाता है। शिक्षा जगत् में भी दो-प्रकार के मूल्य हैं—शिक्षकों के मूल्य और विद्यार्थियों के मूल्य। शिक्षकों का चरित्र वास्तव में उस पद के अनुरूप होना चाहिए। शिक्षक ही चरित्रवान नहीं हो तो विद्यार्थी को भी अधिक लाभ नहीं हो सकता है। अत: शिक्षकों के लिए आवश्यक है कि वे अपने कर्त्तव्य का यथोचित पालन करें। नशा मुक्ति, कर्त्तव्यनिष्ठा, संवेदनशीलता, प्रामाणिकता आदि कई मूल्य शिक्षक का पथ-दर्शन करते हैं तो दूसरी ओर विद्यार्थी में भी नशामुक्ति, राजनीति से दूरी, प्रामाणिकता, स्वाध्याय की वृत्ति, आदर व सम्मान की भावना तथा आत्मानुशासन मुख्य रूप से होने चाहिए। वैसे आत्मानुशासन सभी मूल्यों का आधार बिन्दु है। यह आत्मानुशासन शैक्षिक जगत की रीढ़ है। वर्तमान में शैक्षिक संस्थानों की हालत नाजुक है। कहा गया है कि किसी राष्ट्र की सम्पत्ति उसके बैंकों में नहीं अपितु विद्यालयों में सुरक्षित होती है। अत: शिक्षा संस्थानों का यह दायित्व है कि अच्छी पीढ़ी का निर्माण हो सके, इसके लिए शिक्षक, शिक्षार्थी—दोनों को ही अपने कर्त्तव्य को समझना होगा। पहल होगी शैक्षिक जगत के पाठ्यक्रमों को मूल्यपरक बनाने से। शिक्षकों को सही रूप में शिक्षा देने से। अत: शैक्षिक जगत् ही सबसे महत्त्वपूर्ण है जहाँ से मूल्यों के विकास के लिए सही रूप से प्रस्थान हो सकता है।

मूल्यों के उपरोक्त वर्गीकरण से यह ज्ञात होता है कि मूल्य असीमित है न कि सीमित। यह सत्य भी है कि व्यवहार का क्षेत्र भी फैला हुआ है तो मूल्य का विस्तार भी संभव ही है। ये मूल्य वास्तव में व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने, संतुलित करने, सुन्दर तथा व्यवस्थित बनाने में बहुत ही उपयोगी सिद्ध होते हैं। अत: मूल्यों का व्यक्ति के जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

8.0 सारांश—मूल्य जीवन के आवश्यक एवं अपरिहार्य अंग हैं। इनके अभाव में न तो वैयक्तिक जीवन अच्छा हो सकता है और न ही सामाजिक जीवन। अत: मूल्य जीवन व्यवहार के सकारात्मक प्रेरक तत्त्व हैं, जो व्यक्ति का मार्गदर्शन करते हैं।

अर्थ—मूल्य को एक मानक के रूप में माना गया है जो व्यक्ति के व्यवहार का नियामक होता है।

परिभाषा—आलपोर्ट के अनुसार—मूल्य एक मानव विश्वास है जिसके आधार पर मनुष्य वरीयता प्रदान करते हुए कार्य करता है।

मूल्यों की प्रकृति—मूल्यों की प्रकृति के संदर्भ में तीन मत प्रचलित हैं—आत्मनिष्ठ मत, वस्तुनिष्ठ मत तथा आपेक्षिक मत।

मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया—इस प्रक्रिया में मुख्यत: सात बिन्दुओं को स्थान दिया गया है—स्वतंत्र चयन करना, विकल्पों में से चयन करना, विचारपूर्वक चयन करना, महत्त्व देना, दृढ़तापूर्वक स्वीकार करना, क्रियान्विति करना तथा पुनरावृत्ति करना।

मूल्यों के लक्षण—इसमें कई लक्षण हैं जिन्हें किसी नियम के महत्त्व के बारे में विचार, ज्ञानात्मक, अनुभवात्मक तथा क्रियात्मक, सांवेगिक वचनबद्धता, भावना एवं तर्कप्रधान, मानदण्ड आदि के रूप में प्रकट किया गया है।

मूल्य खोज के प्रयास—दर्शन, विचार, साहित्य, संस्थाएँ, धर्म आदि द्वारा मूल्यों की खोज का अतिमहत्त्वपूर्ण प्रयास किया गया है।

वर्गीकरण—मूल्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया गया है—वैयक्तिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, राजनैतिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, वैश्विक मूल्य, पर्यावरणीय मूल्य, सौन्दर्यात्मक मूल्य, आध्यात्मिक मूल्य, शैक्षिक मूल्य आदि।

प्रश्नावली

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मूल्य की परिभाषा एवं प्रकृति बताइये।
2. मूल्य-निर्धारण की प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।

निबंधात्मक प्रश्न

1. मूल्य-खोज के प्रयास बताते हुए मूल्यों का वर्गीकरण स्पष्ट कीजिए।

पाठ–2– मूल्य शिक्षा की आवश्यकता

रूपरेखा

1.0 मूल्य शिक्षा की आवश्यकता

2.0 मूल्यों की शिक्षा एवं विद्यालयीकरण

3.0 मूल्य शिक्षा एवं निर्देशक नियम

4.0 मूल्य विकास में परिवार की भूमिका

5.0 मूल्य विकास में समाज की भूमिका

6.0 सारांश

उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत आप निम्न उद्देश्यों को समझ पाएँगे–

1. मूल्य शिक्षा की आवश्यकता को समझ पाएंगे।
2. मूल्यों की शिक्षा व विद्यालयीकरण को समझ पाएंगे।
3. मूल्य संबंधी निर्देशक नियमों को समझ पाएंगे।
4. मूल्यों के विकास में परिवार में परिवार व समाज की भूमिका को समझ पाएंगे।

भूमिका

कहा जाता है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। यह सत्य भी है। कोई भी आविष्कार, कोई भी अनुसंधान अथवा कोई भी खोज तभी होती है जब उसका अस्तित्व पहले से या तो होता ही नहीं है अथवा अभाव होता है या प्रतिक्रिया स्वरूप होता है। कहने का तात्पर्य है कि आवश्यकता तभी अनुभव में आती है जब अभाव अथवा प्रतिक्रिया हो। मूल्य शिक्षा की आवश्यकता के सन्दर्भ में भी यही कहा जा सकता है कि या तो शिक्षा में मूल्यों का स्थान है ही नही और यदि है भी तो उसका परिणाम दृष्टिगत नहीं हो रहा है। अथवा यों कहा जा सकता है कि वह प्रभावशाली नहीं हो पा रही है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था में मूल्यों का स्थान है ही नहीं। मूल्यों का स्थान तो अवश्य ही है पर उसके प्रभावशाली परिणाम नहीं मिल रहे हैं। शिक्षा में केवल मूल्यों को स्थान देना ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिए आवश्यक है कि इन्हें वास्तव में महत्त्व देना और उनकी सफल क्रियान्विति हेतु व्यवस्था करना। अत: कहा जा सकता है कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में मूल्यों के सही अर्थों को स्थान देने की आवश्यकता महसूस होती है। दूसरे परिप्रेक्ष्य में वर्तमान वैज्ञानिक युग में सर्वत्र चकाचौंध दिखाई देती है। सांस्कृतिक संक्रमण का प्रभाव भी देखा ही जा सकता है। ऐसे समय में मूल्य शिक्षा की आवश्यकता और भी अधिक महसूस होती है। मूल्य प्रत्येक संस्कृति की धरोहर होती है। भारतीय संस्कृति तो मूल्य-प्रधान संस्कृति रही है। अत: इसको नई पीढ़ी को हस्तान्तरित करना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है। इसी से संस्कृति की सुरक्षा हो सकती है। हमारी संस्कृति ''सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय'' को महत्त्व देती है। इसलिए भौतिक विकास के साथ-साथ मूल्य जैसी धरोहर भी सुरक्षित रहे जो मानव जाति को सद्मार्ग की ओर प्रेरित कर सके। अत: इस सन्दर्भ में भी मूल्य-शिक्षा की आवश्यकता है। यों तो मूल्य शिक्षा की आवश्यकता कई सन्दर्भों में होती है पर मुख्यतया आन्तरिक पक्ष की सुदृढ़ता ही अनेक क्षेत्रों को प्रकाशित करती है। अत: मूल्य शिक्षा की आवश्यकता को अनेक संदर्भों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

1.0 मूल्य शिक्षा की आवश्यकता

मूल्य शिक्षा की आवश्यकता को निम्न बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है–

1.1 जीवनशैली के परिष्कार हेतु

जीवनशैली जीवन जीने का स्वयं का एक तरीका, ढंग है। प्रत्येक व्यक्ति की जीवनशैली अपने आप में भिन्न-भिन्न होती है। इसका कारण है वैयक्तिक भिन्नता। अर्थात् व्यक्ति अपने जीवन को अपने मन मुताबिक जीता है। जो उसे अच्छा लगता है, वही करता है। चाहे उसे इसका ज्ञान ही न हो कि अच्छा और बुरा क्या है? इसी संदर्भ में जीवनशैली के भी दो प्रकार हो जाते हैं—स्वस्थ और रुग्ण अर्थात् बीमार। स्वस्थ जीवनशैली में जीने का तरीका भी स्वस्थ ही होता है। व्यक्ति का आचार-व्यवहार स्वस्थ होता है, समुचित होता है, व्यवस्थित होता है। अत: ऐसी जीवनशैली अपने लिए तो सुखकर होती ही है साथ ही दूसरों के लिए प्रेरणादायक होती है। इसका कारण है कि अच्छा व्यक्ति अच्छाई ही बिखेरता है, बुराई नहीं। इसके विपरीत रुग्ण अथवा बीमार जीवनशैली वाले व्यक्ति का आचार-व्यवहार न तो स्वस्थ होता है, न ही उचित और न ही व्यवस्थित होता है। ऐसा व्यक्ति न तो स्वयं के साथ न्याय कर सकता है और न ही समाज के लिए उपयोगी होता है। रुग्ण जीवनशैली के लक्षण हैं—स्वार्थपरता, दूसरों की भावनाओं का अनादर, अनैतिकता, नशा आदि। इससे स्वत: ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐसा व्यक्ति न तो सुख शांति से जी सकता है और न ही दूसरों को प्रेरणा दे सकता है। वर्तमान समय में व्यक्ति अपने स्तर को दूसरों से ऊँचा रखना चाहता है, दूसरों की देखा-देखी करता है, चाहे वह उसके योग्य हो या न हो। अपनी योग्यता को बढ़ाकर आगे बढ़ना एक बात है तो अयोग्य रहकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना दूसरी बात है। अंधी दौड़ में व्यक्ति आगे बढ़ने की कोशिश करता है और उस दौड़ में शामिल भी होता है। मिलती है—निराशा, असन्तोष, कुंठा, चिन्ता आदि। मानसिक रोगों से ग्रस्त होता है फिर लेता है शरण नशे की जिससे जीवन जड़ हो जाता है। अत: ऐसी संस्कृति घातक है।

जीवनशैली बनती है हमारे विचारों से। जैसे विचार होते हैं वैसा ही हमारा आचार-व्यवहार होता है। अत: आवश्यकता है हमारे विचार, हमारी सोच स्वस्थ बने। मूल्य शिक्षा इसमें सहयोगी बनती है। हमें उचित, अनुचित में भेद करने की शक्ति मिलती है तत्पश्चात् व्यक्ति उचित को स्वीकार कर अनुचित का त्याग करता है। अत: व्यक्ति की जीवनशैली के परिष्कार हेतु मूल्य शिक्षा आवश्यक है।

1.2 उपभोक्तावादी संस्कृति को कम करने हेतु

वर्तमान में उपभोक्तावाद को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है जिससे अनेक समस्याएँ देखने को मिलती हैं। वस्तु का उपभोग करना गलत नहीं है, गलत है—केवल उपभोग को महव देना। व्यक्ति अपने जीवन यापन के लिए वस्तुओं का उपभोग ही करता है। जीवन में केवल उपभोग ही नहीं, उसके साथ अन्य आवश्यकताएँ भी जुड़ी होती हैं। वर्तमान में व्यक्ति एक मशीन की तरह हो गया है। यह समय की मांग भी है लेकिन ऐसे समय को आमंत्रण भी तो व्यक्ति ने ही दिया है। उसकी इच्छा एवं आकांक्षाओं का परिणाम ही है यह समय। इस उपभोक्तावादी दौड़ में केवल भौतिक वस्तुएँ ही हमारे जीवन का आवश्यक हिस्सा बन जाती हैं और उन्हीं से हम सुख एवं शांति की तलाश करते हैं लेकिन यह आवश्यक नहीं कि ये दोनों हमें मिल ही जाएँ। कुछ सीमा तक तो ये हमारे सहायक हो सकते हैं लेकिन समय के साथ-साथ हमारे विचार, हमारी आवश्यकताएँ भी बदलती रहती हैं। तब ये भौतिक वस्तुएँ ही हमारी अपनी नहीं होती हैं जिनके लिए हम दिन-रात परिश्रम करते हैं। केवल इन्द्रिय सुख की कल्पना अच्छे जीवन में सहायक नहीं हो सकती है। केवल उपभोक्तावाद मानवीय संबंधों को मधुर नहीं बना सकता है, दूसरों से प्रेम, मैत्री, अपनत्व की भावना को अर्जित नहीं कर सकता है जो व्यक्ति के जीवन की आवश्यकता है। अत: मूल्य शिक्षा के द्वारा व्यक्ति के इस केवल उपभोक्तावादी दृष्टिकोण को कम कर मानवीय संबंधों में विश्वास तथा त्याग की भावना को विकसित किया जा सकता है। भोग के साथ त्याग की भावना भी विकसित हो सकेगी।

1.3 अनैतिकता को दूर करने हेतु

वर्तमान समय में कोई व्यवसाय ऐसा नहीं कहा जा सकता है जिसमें अनैतिकता न दिखाई देती हो। यह अनैतिकता वैयक्तिक तथा सार्वजनिक दोनों ही स्तर पर दिखाई देती है। चाहे घर हो, चाहे दुकान, चाहे कार्यालय हो अथवा मित्र-मण्डली, सम्मेलन, संसद आदि। ऐसी अवस्था में समस्या का होना स्वाभाविक है। व्यक्तियों का मूल्यों से, नैतिकता से विश्वास कम होता जा रहा है। व्यक्ति को यह भय है कि नैतिकता से उसे लाभ नहीं होगा, सत्य का आचरण मन वांछित फल नहीं दे सकता। ईमानदारी से ज्यादा लाभ नहीं कमाया जा सकता है। इसका कारण यही है कि असीमित इच्छाएँ और समाज में ऐसे लोगों का रुतबा जो अनैतिक कार्यों को करने पर भी सम्मानपूर्ण पदों को सुशोभित कर रहे हैं। जिसका आचार-व्यवहार ही सही नहीं है, वे व्यक्ति

समाज के मार्गदर्शक व हितैषी बने हुए हैं। भ्रष्टाचार में लिप्त व्यक्ति लोगों को प्रामाणिकता की शिक्षा देते हैं, नशाप्रेमी नशामुक्ति की बात करते हैं, उपभोक्तावादी त्याग की बात करते हैं, पथभ्रष्ट व्यक्ति पथदर्शक बनते हैं। यह वर्तमान की बहुत बड़ी विडम्बना है। ऐसी हालत में समस्याओं का समाधान होगा—यह शोचनीय विषय है। जीवन के हर क्षेत्र में अनैतिक आचरण दिखाई देता है। न खुद का विवेक, न बड़ों का सम्मान, न कानून का भय। ऐसी उच्छृंखलता, ऐसी उद्दंडता जीवन का अंग बनती जा रही है। यदि इस स्थिति पर नियंत्रण न हो तो परिणाम की स्वयं कल्पना की जा सकती है। अनुशासनहीनता सर्वत्र व्याप्त है। अनैतिक होते हुए भी उसका विरोध करना हमें नहीं आता है। हो सके तो उसे अनुमति ही देंगे।

प्रत्येक परिवार, समुदाय, राज्य व देश, प्रत्येक व्यक्ति से कुछ-न-कुछ अपेक्षाएँ रखता है—चरित्रवान, कर्त्तव्य परायण, नैतिक आदि लेकिन मूल्य की उल्लंघना त्याज्य है। जब तक अनैतिकता को कम करने का भाव नहीं जागता है तब तक इस समस्या से छुटकारा पाना भी सरल कार्य नहीं है। एक संगठन के द्वारा ही यह कार्य सरल हो सकता है। अत: ऐसी भावना का विकास करना आवश्यक है। साथ ही ऐसे लोगों को एक साथ मिलकर कार्य करने की आवश्यकता है। असामाजिक लोग तो संगठित होते हैं लेकिन सामाजिक लोग असंगठित होते हैं। अत: सामाजिक लोगों का एक संगठन ही समस्या का समाधान कर सकता है। मूल्यशिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को अच्छाई से जोड़ेगी, बुराई से दूर करेगी, अत: इस सन्दर्भ में मूल्यशिक्षा अनैतिक तथा असामाजिक कार्यों पर रोक लगा सकेगी। वर्तमान की समस्याओं का समाधान तो होगा ही, भविष्य भी सुख-चैन पूर्ण होगा।

1.4 अच्छे भविष्य के लिए

व्यक्ति अपना जीवन अच्छा चाहता है, अपना भविष्य अच्छा चाहता है, इसलिए वह इसी कार्य में संलग्न रहता है। अत: भविष्य अच्छा हो, सुख-चैन पूर्ण हो, इसलिए वर्तमान से ही अच्छे की शुरुआत की जाती है। भविष्य की समस्याओं, चुनौतियों एवं कठिनाइयों का पूर्णरूपेण तथा विश्वसनीय अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। वर्तमान को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि परिवर्तन की गति और भविष्य का स्वरूप कैसा हो सकता है। अत: ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो बालक को भविष्य के लिए तैयार कर सके। उसके सुरक्षित एवं सुखद भविष्य की तैयारी करा सकें।

1.5 प्राचीन तथा अर्वाचीन में समन्वय हेतु

एक तरफ हमारे प्राचीन मूल्य, मत, मान्यताएँ हमारे मार्गदर्शक हैं तो दूसरी ओर हमारा वर्तमान परिवेश। प्राचीन मान्यताएँ अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं तो वर्तमान भौतिक विकास भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि हम केवल प्राचीन मान्यताओं को ही महत्त्व देते हैं तो भी समस्या उत्पन्न होती है और केवल आधुनिकता को महत्त्व देना भी समस्या का समाधान नहीं है। अत: दोनों के समन्वय की आवश्यकता है। एक ओर प्राचीन योग तो दूसरी ओर विज्ञान, एक ओर अध्यात्म तो दूसरी ओर भौतिकता। ऐसे में किसे चुना जाए, किसे महत्त्व दिया जाए—यह समस्या है। एक ओर भीतर का जगत् तो दूसरी ओर बाहर का जगत्। अर्थात् व्यक्ति के लिए दो दिशाएँ हैं चुनाव करने के लिए। इनमें से एक का चुनाव किया जाए या दोनों का? यह सत्य ही है कि भौतिक जगत् चकाचौंध ा का जगत् है, आकर्षण का जगत् है क्योंकि दृश्यजगत् है। एक अदृश्य जगत् है तो दूसरा दृश्य जगत् है। इन्द्रिय सुख दृश्य जगत् से पूरा हो सकता है तो आत्मिक सुख अदृश्य जगत् से प्राप्त हो सकता है। अत: ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो प्राचीनता एवं आधुनिकता में समन्वय स्थापित कर सके। मूल्य शिक्षा के द्वारा प्राचीन मान्यताओं को वर्तमान सन्दर्भ में रखा जा सकता है। मूल्य शिक्षा प्राचीन मूल्यों एवं अर्वाचीन मूल्यों में समन्वय स्थापित कर व्यक्ति के अच्छे जीवन का पथ-दर्शन करती है।

1.6 स्व-अस्तित्व की पहचान हेतु

शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास ही नहीं वरन् स्व—अस्तित्व की पहचान कराना भी है। स्व-अस्तित्व के अन्तर्गत विद्यार्थी यह जान सके कि उसकी पहचान क्या है? उसका विश्वास, उसकी योग्यता, क्षमता, भावना, विचार आदि क्या हैं? जब विद्यार्थी अपने आप से परिचित ही नहीं है तो वह अपनी क्षमताओं का सही उपयोग भी नहीं कर सकता है। अत: विद्यार्थी में निहित क्षमताओं को जागृत करने की आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व को स्वतंत्र एवं सुरक्षित रखना चाहता है। इस स्वतंत्रता के अविवेक में ही समस्याएँ पैदा होती हैं। स्वतंत्रता का विवेक न होने पर अपने अस्तित्व की सुरक्षा, अपने अहम् का यथोचित संरक्षण तथा अपनी योग्यताओं तथा क्षमताओं का सही उपयोग नहीं हो पाता है। सुख-सुविधा व्यक्ति को मूल्यों से जोड़कर ही रखे, आवश्यक नहीं है। ऐसे में मूल्य सुदूर एक आदर्श प्रतीत होते हैं। अर्थात् केवल किताबी ज्ञान तक सीमित रह जाते हैं। वे व्यवहार का पक्ष नहीं बन पाते हैं। व्यक्ति जो नहीं है, वैसा अपने को दिखाना चाहता है। ईमानदार न होने पर भी ईमानदारी का

ढोंग करता है। जैसा वह होता है, दिखाई नहीं देता है। व्यक्ति एक दोहरे जीवन में जीता है। इसी कारण वह अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर पाता है। अपनी अच्छाइयों को व्यक्त नहीं कर पाता है जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति अपने आप से अनभिज्ञ, अनजान रहता है और परिस्थितियों के थपेड़े खाता रहता है। अत: अपने अस्तित्व की पहचान जीवन सफल बनाने में सहायक है। व्यक्ति स्वतंत्र निर्णय ले सके, मूल्य चुनने में सक्षम हो सके, व्यक्तित्व का विकास कर सके, स्व के सन्दर्भ में वातावरण के प्रति जागरूक रह सके आदि। **मैं कौन हूँ, मेरा कर्त्तव्य क्या है, मुझे क्या बनना है, मुझे क्या त्यागना है, अपनी योग्यताएँ कैसे बढ़ानी हैं आदि बातें अस्तित्व की पहचान हैं। मूल्य शिक्षा का यही कार्य है।**

1.7 मूल्यपरक रोजगारोन्मुखी शिक्षा हेतु

शिक्षा का एक उद्देश्य है—रोजगार। जीवन जीने के लिए रोजगार भी आवश्यक होता है। जीवन के अनेक आयाम हैं तो रोजगार के क्षेत्र भी उतने ही अधिक हो जाते हैं। अत: कर्म का क्षेत्र कोई भी हो, मूल्यों की महत्ता है। हर एक कार्यक्षेत्र के अपने-अपने मूल्य निर्धारित होते हैं। आवश्यकता है उनके अनुपालन की। **चरित्र व्यक्ति की आवश्यकता है तो वही उसका रक्षक भी है।** इसी प्रकार शिक्षा अनेक आयामों वाली है तो शिक्षा आर्थिक जीवन का प्रवेश द्वार भी है। यदि इसे मूल्यों से नहीं जोड़ा जाता है तो आर्थिक जीवन के मूल्य सुरक्षित नहीं रह सकते हैं। अर्थ ही है जहाँ व्यक्ति स्वयं को सबसे ज्यादा नीचे स्तर तक गिरा देता है। रोजगारोन्मुखी मूल्य शिक्षा व्यक्ति को स्वार्थ तक ही सीमित नहीं रखेगी वरन् परमार्थ की ओर भी अग्रसर करेगी। वह शिक्षा अपने कार्यक्षेत्र के मूल्यों को स्थापित करवाने में सहायक होगी जहां रिश्वत तथा बाहुबल अथवा अपनी वाणी का उपयोग न होकर अपनी योग्यता, अपनी क्षमता के आधार पर शुद्ध प्रतिस्पर्धा का उपयोग होगा। वर्तमान में किसी-न-किसी प्रकार रोजगार हासिल करना भी एक परिवेश बनता जा रहा है। विद्यार्थी अपने विद्यार्थी काल में नशा, राजनीति, अनुशासनहीनता आदि के चंगुल में फंसा रहता है। इसमें गरीब विद्यार्थी ही नहीं वरन् अमीरों की सन्तानें भी सम्मिलित हैं। गरीब तो इतनी रिश्वत नहीं दे पाता है लेकिन कुण्ठित तो हो ही सकता है। अमीर रिश्वत के बल पर अपनी सन्तानों को कोई-न-कोई पद दिलाने में सफल हो ही जाते हैं जिससे अयोग्य भी योग्य का स्थान ले लेते हैं। फिर सफर शुरू होता है अधिकाधिक अर्थोपार्जन का। फिर भ्रष्टाचार प्रारंभ होता है जो रिश्वत दी गई थी उसे पूरा करने का उद्देश्य सक्रिय हो जाता है। जीवन का कोई भी कार्यक्षेत्र हो, अशुद्ध प्रतियोगिता के आधार पर चयन अहितकर होता है। जो व्यक्ति जिस योग्य है, उसी कार्य को वह सही अंजाम दे सकता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य को देखते हुए मूल्य शिक्षा द्वारा अच्छे व्यक्तियों का निर्माण करना है।

1.8 सामाजिक पार्थक्य से मुक्ति हेतु

सामाजिक पार्थक्य का अर्थ है—समाज से कटना, अलग होना, अपने तक सीमित रहना आदि। वर्तमान युग में व्यक्ति के पास भौतिक संपदा तो बढ़ रही है लेकिन आत्मीयता की कमी है। व्यक्ति स्व केन्द्रित होता जा रहा है। उसे किसी से कोई मतलब ही जैसा नहीं रहता है। इसका सबसे छोटा उदाहरण परिवार ही है। संयुक्त परिवारों को जहां महत्त्व दिया जाता था वहीं एकल परिवारों का बोलबाला हो गया है। बच्चे जहाँ परिवार से मूल्यों को सीखते हैं आज वहीं मूल्य नहीं रहे हैं। बुजुर्गों का सम्मान, परिवार की बहुत बड़ी आवश्यकता है। वर्तमान में बुजुर्गों को महत्त्व न देना परिवार से पृथक् करना, आदि समस्याएँ हैं। बच्चे दादा-दादी से जो मूल्य, जो संस्कार ग्रहण करते हैं, उनका अभाव है। यही बात समाज के सन्दर्भ में भी लागू होती है। आत्मीयता ही व्यक्ति में नहीं होती है तो क्या परिवार और क्या समाज। समाज के बिना व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं हो सकता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति समाज से ही करता है। कुछ आवश्यकताएँ धन से पूरी होती हैं तो कुछ आवश्यकताओं में धन का कोई महत्त्व नहीं होता है। जहाँ मैत्री, करुणा आदि मूल्यों की बात है, ये भावात्मक हैं। एक-दूसरे के सुख-दु:ख में सम्मिलित होना, एक-दूसरे के प्रति अपना सामाजिक कर्त्तव्य का निर्वहन करना आदि बातें महत्त्वपूर्ण हैं। छोटे गांवों में तब भी कुछ-न-कुछ अंशों में यह परम्परा अभी भी सुरक्षित है पर बड़े शहरों में परिस्थिति और भी बदतर है। अत: मूल्य शिक्षा व्यक्ति को सामाजिक मूल्यों का बोध कराती है, कर्त्तव्य करने के लिए प्रेरित करती है।

1.9 सच्चरित्र नागरिकों के निर्माण हेतु

जिस देश का नागरिक अच्छा होगा, उस देश का विकास भी उतना ही अधिक होगा। अत: अच्छे नागरिकों के निर्माण के लिए पहल करनी होती शैक्षिक संस्थानों से। कहा जाता है कि किसी राष्ट्र की सम्पत्ति उसके बैंकों में नहीं वरन् विद्यालयों में सुरक्षित रहती है। अत: विद्यालयों की शिक्षा में देश के प्रति प्रेम, त्याग, समर्पण की भावना को जगाकर अच्छे नागरिकों को निर्मित किया जा सकता है।

1.10 मूल्य आधारित राजनीति हेतु

कहा जाता है जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा होती है। कहने का तात्पर्य है कि राजा के आचार-व्यवहार का प्रभाव प्रजा पर पड़ता है। राजा अच्छा होगा तो प्रजा भी उसके अनुरूप रहेगी। वर्तमान में हमारे राजनीति की दशा बहुत खराब है। जनता के सामने झूठे वादे करके चुनाव जीतने वाले हमारे राजनेता वास्तव में क्या हैं—यह सभी जानते हैं। इनके भ्रष्टाचारों के कारनामे आए दिन सुनने को मिलते हैं। हमारी राजनीति की छाप स्वच्छ नहीं है। न जाने कितने ही आरोपों के दोषी राजनेता प्रजा के रक्षक बनते हैं। केवल स्वार्थ पूर्ति ही शायद इनका एकमात्र उद्देश्य रह जाता है। जब रक्षक भक्षक बन जाता है तो जीवन असुरक्षित ही है। वर्तमान के राजनेता रक्षक बनकर जनता के हितों को कुचल रहे हैं। अत: ऐसे समय में मूल्य शिक्षा इस राजनैतिक क्षेत्र की समस्याओं का समाधान है। राजनीतिक मूल्यों की बहुलता ही प्रत्येक राजनेता के व्यवहार का अंग बने, इसलिए मूल्यपरक शिक्षा की आवश्यकता है।

2.0 मूल्य शिक्षा एवं विद्यालयीकरण

शिक्षा राष्ट्र की रीढ़ मानी जाती है। जिस प्रकार विकृत रीढ़ व्यक्ति के स्वास्थ्य का सूचक नहीं है, उसी प्रकार विकृत शिक्षा व्यवस्था भी राष्ट्र की स्वस्थता का सूचक नहीं है। अर्थात् विकृत मूल्यों वाला राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकता है। वह विकास की ओर न जाकर पतन की ओर बढ़ेगा। यह स्पष्ट है कि अच्छा आचार-विचार तथा व्यवहार ही विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वर्तमान समय में मूल्यों का ह्रास एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इससे व्यक्ति ही नहीं वरन् पूरा राष्ट्र प्रभावित हुआ है। जीवन का ऐसा एक भी क्षेत्र नहीं है जहाँ मूल्यों की कमी न देखी जाती हो। इसका एक प्रमुख कारण है—शिक्षा में मूल्यों का अभाव। अर्थात् हमारी शिक्षा व्यवस्था अनेक आयामों को व्यक्त करती है लेकिन मूल्य शिक्षा अन्य आयामों की तरह समृद्ध अवस्था में नहीं कही जा सकती है। इस ओर विचारकों का ध्यान अवश्य ही केन्द्रित हुआ पर परिणाम अदृश्य हैं। यदि शिक्षा किसी भी रूप से मूल्यों से विमुख होती है या इससे बचती है तो यह शोभनीय नहीं माना जा सकता है। शिक्षा का कार्य ही है अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण करना, अच्छाइयों को प्रकट करना आदि-आदि। मूल्य शिक्षा के विद्यालयीकरण का अर्थ है कि मूल्यों, शिक्षा और विद्यालय का एकीकरण। अर्थात् मूल्य शिक्षा को विद्यालय स्तर पर समाहित करना, विद्यालय का पूरा वातावरण ही मूल्यपरक बनाना। अत: इस विद्यालयीकरण की प्रक्रिया में विद्यालय में प्रत्येक सदस्यों, प्रत्येक क्रियाकलापों में मूल्यों का ही बोलबाला होगा। न कहीं अनैतिक आचरण होगा, न किसी प्रकार का उपेक्षा का भाव होगा। अर्थात् विद्यालय का वातावरण मूल्यों से ओतप्रोत होगा। यों तो मूल्य शिक्षा देने के और भी अनेक साधन हैं लेकिन विद्यालयी शिक्षा एक औपचारिक शिक्षा है। इसके माध्यम से मूल्य शिक्षा का प्रचार-प्रसार सरलता से किया जा सकता है। अत: इस सन्दर्भ में विद्यालय का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। कहा गया है कि मूल्यों को थोपा नहीं जा सकता, उसे सीखा जाता है। इसलिए विद्यालय का पूरा वातावरण ऐसा बने कि विद्यार्थी मूल्य को सीखने हेतु, ग्रहण करने हेतु मानसिक रूप से तैयार हो सकें, उसमें रुचि पैदा हो सके। यह भी सत्य ही है कि वातावरण का प्रभाव भी सीखने के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। अत: विद्यालयी वातावरण मूल्यपरक बनाने से राष्ट्र की समस्याओं का समाधान होगा तथा राष्ट्र विकास की ओर अग्रसर होगा। इसका परिणाम होगा कि व्यक्ति सुख-चैन पूर्ण जीवन जी सकेगा। अत: मूल्यशिक्षा के विद्यालयीकरण के लिए निम्न प्रयास आवश्यक हैं—

2.1 पाठ्यक्रम में मूल्यों का समावेश

विद्यालयी शिक्षा में पाठ्यक्रम अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अर्थात् पाठ्यक्रम में जिन तत्त्वों को स्थान दिया जाता है वही शिक्षण का केन्द्र बिन्दु रहते हैं। अत: पाठ्यक्रम में मूल्यों का समावेश मूल्यों के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकेगा। जैसे अन्य विषयों का ज्ञान विद्यार्थी को अध्ययन के दौरान होता, वैसे ही मूल्यों का ज्ञान हो सकेगा। ज्ञान के बाद ही आचरण की बात प्रकट होती है। ज्ञान के अभाव में आचरण का पक्ष कपोल कल्पना ही कही जा सकती है। अत: इसके लिए ज्ञान पक्ष को सुदृढ़ करने का प्रयास करना आवश्यक होगा। इसके बाद ही आचरण पक्ष मजबूत हो सकेगा। अत: मूल्यों की सैद्धान्तिक जानकारी तथा उसके साथ उन्हें व्यवहारगत करने हेतु प्रायोगिक पक्ष भी आवश्यक माना जाता है। कक्षा स्तर के अनुरूप मूल्यों का स्तर भी हो। अर्थात् कक्षा के अनुसार विद्यार्थियों की योग्यता को ध्यान में रखते हुए मूल्यों का समावेश होना चाहिए। पाठ्यक्रम सुरुचिपूर्ण हो न कि बोझिल। रुचि का विषय विद्यार्थी कम समय में ग्रहण कर लेते हैं। मूल्य शिक्षा का संबंध आचरण से होता है। अत: यह सरल कार्य तो नहीं कहा जा सकता है। व्यक्ति का व्यवहार परिवर्तनशील तथा जटिल होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने शीलगुण होते हैं जो उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। इसलिए इस व्यक्तित्व की जटिलता के कारण सभी पर इसका

समान प्रभाव पड़े, यह भी आवश्यक नहीं है। फिर भी प्रयास तो किया जा सकता है। इसके लिए आवश्यक होगा कि पाठ्यक्रम को रोचक बनाया जाए जिससे उसके प्रति एक रूझान हो सके। पाठ्यक्रम में सत्य, अहिंसा, अचौर्य, मैत्री, सहयोग आदि महत्त्वपूर्ण मूल्यों का समावेश विद्यार्थियों को बचपन से मार्गदर्शन कर सकेगा। अत: पाठ्यक्रम का निर्माण करते समय उपरोक्त महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को ध्यान रखना आवश्यक होगा।

2.2 शिक्षण तकनीक

पाठ्यक्रम में मूल्यों का समावेश कर देना ही इतिश्री नहीं मानी जा सकती है। अर्थात् मूल्य आधारित पाठ्यक्रम एक शुरुआत है, मूल्यदिशा में एक प्रस्थान है, मंजिल नहीं है। मंजिल तक पहुंचने के लिए अनेक प्रक्रियाएँ इसके साथ जुड़ती हैं तब कहीं मंजिल तक पहुंचा जा सकता है। कहा गया है शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति शिक्षण द्वारा ही होती है। अपवादों को छोड़कर शिक्षण के साथ सीखने का अथवा अधिगम का अनुबंध रहता है अर्थात् शिक्षण से अधिगम अधिक होता है। प्रत्येक विद्यार्थी का अधिगम का स्तर भी भिन्न-भिपन्न होता है। इस दृष्टि से भी शिक्षण की तकनीक समान नहीं हो सकती है। दूसरी ओर विषय की प्रकृति भी भिन्न होती है। किसी विषय की प्रकृति सैद्धान्तिक होती है तो किसी की प्रायोगिक तथा किसी की आभ्यासात्मक। इसके अतिरिक्त किसी विषय में ये तीनों ही गुण विद्यमान रहते हैं। इतिहास जैसे विषय की प्रकृति सैद्धान्तिक है तो विज्ञान जैसे विषय की प्रकृति सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक है तथा खेल जैसे विषय अभ्यासात्मक अधिक हैं। योग जैसा विषय अथवा मूल्य जैसा विषय सैद्धान्तिक, प्रायोगिक तथा अभ्यासात्मक तीनों ही प्रकार का है। अत: विषय की प्रकृति को ध्यान में रखकर शिक्षण तकनीक को अपनाना आवश्यक होगा।

शिक्षण तकनीक का अर्थ है शिक्षण का वैज्ञानिक तरीका। इसके अन्तर्गत सीखने के लिए नई-नई विधियों-उपविधियों का समावेश किया जाता है। शिक्षण के लिए अनेक व्यूहरचनाएँ की जाती हैं, अनेक शिक्षण विधियों का समावेश किया जाता है। विषय की प्रकृति के अनुरूप ये विधियां लागू होती हैं। शिक्षण विधियों में कहानी विधि, खेल विधि, प्रश्नोत्तर विधि आदि महत्त्वपूर्ण हैं जो शिक्षण को रोचक बनाती हैं। साथ ही शिक्षण हेतु आवश्यक एवं उपयोगी सामग्री भी आवश्यक है। शिक्षण सामग्री उपयुक्त हो तो अधिगम पर इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। अत: आधुनिक प्रचलित शिक्षण की उपयोगी सामग्री का समावेश कर उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकेगी, मूल्य विकास जैसी जटिल प्रक्रिया को सरल बनाया जा सकेगा।

2.3 शिक्षक की भूमिका

शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति शिक्षण द्वारा होती है। शिक्षण प्रभावशाली बनता है—शिक्षण तकनीक से। औपचारिक शिक्षा अथवा विद्यालयी शिक्षा के सन्दर्भ में पाठ्यक्रम तथा शिक्षण तकनीक के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है शिक्षक की। पाठ्यक्रम भी है, शिक्षण तकनीक भी है लेकिन अध्यापक की भूमिका सकारात्मक न हो तो सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती है। उसका कर्त्तव्य है कि वह विषय को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करे। विषय तथा विषय सामग्री का होना ही पर्याप्त नहीं होता है। उसे प्रस्तुत करना और वह भी प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिए शिक्षक का व्यक्तित्व भी प्रभावशाली होना चाहिए। शिक्षक की विषय में पकड़ हो, साथ ही उस विषय को प्रस्तुत करने की कला भी उसमें हो। उसका आचार-व्यवहार सकारात्मक हो, मूल्यों से ओत-प्रोत हो तब कहीं मूल्यों की प्रस्तुति का प्रयास सफल हो सकेगा। शिक्षक की वैज्ञानिक सोच हो। वैज्ञानिक सोच के कारण उसका शिक्षण भी वैज्ञानिक ही होगा। वैज्ञानिक शिक्षण विद्यार्थी के व्यवहार में कम समय में अधिक सकारात्मक प्रभाव छोड़ेगा। शिक्षक केवल खानापूर्ति या अपने कर्त्तव्य की इतिश्री तक ही सीमित नहीं रहेगा वरन् परिणामों पर भी उसकी दृष्टि होगी। अर्थात् शिक्षक का शिक्षण व्यवहार परिवर्तन पर आधारित होगा। यही शिक्षा का उद्देश्य है, यही समय की मांग भी है। अत: शिक्षक की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है।

शिक्षक को सम्मान तथा आदर की दृष्टि से देखा जाता है क्योंकि वह अच्छी पीढ़ी का निर्माण करता है। समस्या तब होती जब शिक्षक ही अपने कर्त्तव्य को सही अंजाम नहीं देते हैं। मूल्य ह्रास के इस दौर में शिक्षकों का यह महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह अपने अच्छे आचरण, अपने गुणों द्वारा मूल्यों को पुन: स्थापित कर सकता है, शिक्षा की अपेक्षाओं को पूरा कर सकता है, समय की मांग को पूरा कर सकता है।

2.4 विद्यालयी कार्यक्रमों में मूल्य

मूल्यों की शिक्षा का समावेश विद्यालयी कार्यक्रमों में भी आवश्यक माना जाता है। अध्ययन, अध्यापन के अतिरिक्त प्रतियोगिता,

खेल, नाटक, सांस्कृतिक कार्यक्रम, न जाने कितनी ही गतिविधियाँ हैं जो विद्यालयों में शिक्षा का अभिन्न अंग होती हैं। अत: विद्यालयी कार्यक्रमों में मूल्य विषयक सामग्री का समावेश विद्यार्थी के ज्ञानचक्षुओ को खोलने में सहायक हो सकेगा। गद्यों, पद्यों तथा नाटकों में अनेक मूल्य भरे पड़े होते हैं। आवश्यकता है इन्हें उजागर करने की। महापुरुषों की जीवनियाँ, उनके अनमोल वचन कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अत: कार्यक्रमों के माध्यम से इन्हें व्यवहारगत रूप दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ नाटक के माध्यम से महापुरुषों की जीवनी का चित्रण किया जा सकता है। साथ ही समसामयिक समस्याओं के दुष्परिणामों तथा इनसे समाधान के उपायों को चित्रित किया जा सकता है। मूल्य विषयक प्रदर्शनी का आयोजन किया जा सकता है। समस्याग्रस्त स्थितियों से साक्षात् करवाया जा सकता है जिससे भावात्मक स्तर पर इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ सकेगा। कहने का तात्पर्य है कि इन क्रियाकलापों के माध्यम से विद्यार्थी की चेतना को जगाया जा सकता है, वह सोचने के लिए विवश हो सकता है। अत: पुस्तकीय ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञान भी विद्यार्थी के भीतर परिवर्तन लाने में बहुत सहायक होता है। इसका कारण यह भी होता है कि विद्यार्थी इनमें रुचि लेते हैं। रुचि ही सीखने तथा उस ओर प्रेरित करने में सहायक होती है। अत: ऐसे कार्यक्रमों का समावेश मूल्य शिक्षा को विकसित करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकेंगे।

2.5 विद्यालयी वातावरण में मूल्य

विद्यालय के सम्पूर्ण वातावरण में मूल्यों का समावेश हो, ऐसा प्रयास भी अवश्य करना चाहिए। विद्यालय की प्रत्येक गतिविधि में मूल्यों की झलक मिले, कर्मचारियों का व्यवहार मूल्यों से ओतप्रोत हो जिससे विद्यार्थी को अनुकूल वातावरण की प्राप्ति हो सके। समय-समय पर अभिभावकों तथा अध्यापकों का सम्मेलन होना चाहिए। इससे समस्याओं का समाधान सरलता से किया जा सकता है। प्राचार्य व अध्यापकों के मध्य अन्तर्क्रिया, विद्यार्थी व अध्यापकों के बीच अन्तर्क्रिया, प्रबंध कमेटी के साथ अध्यापकों तथा प्राचार्य की अन्तर्क्रिया आदि महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं जो मूल्य शिक्षा के परिणामों को प्राप्त करने में सहायक होंगे। ये आपसी सम्मेलन, ये अन्तर्क्रियाएँ सामूहिक रूप से एक मत को स्वीकार करते हैं। जहाँ सबका एक मत होता है वहां विवाद की संभावना भी नहीं रहती है। इससे प्रत्येक गतिविधि को जानने, समझने का मौका मिलता है तथा एक सर्वसम्मत निर्णय सामने आता है। इस निर्णय की क्रियान्विति में सबका यथासंभव प्रयास रहता है। यह प्रयास अच्छे परिणाम के रूप में प्रकट होता है। अत: विद्यालय का वातावरण मधुर, सौहार्दमय होना चाहिए। सौहार्दमय वातावरण भावात्मक एकता को पैदा कर सकेगा। भावात्मक एकता ही समस्याओं का समाधान सरलता से कर सकेगी।

बोध प्रश्न

---

1. जीवनशैली क्या है?
2. सामाजिक पार्थक्य क्या है?
3. राष्ट्र की रीढ़ क्या मानी जाती है?
4. शिक्षण तकनीक का क्या अर्थ है?
5. शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति किससे होती है?

3.0 मूल्य शिक्षा एवं निर्देशक नियम

मूल्य शिक्षा देते समय कुछ नियमों की स्पष्टता की आवश्यकता होती है। इस स्पष्टता के बिना कई पहलू अनछुए ही रह सकते हैं। अत: इन नियमों की स्पष्ट जानकारी करने के बाद सही निष्कर्ष तक पहुंचा जा सकता है। ये नियम निम्न हैं—

1. यदि मूल्य शिक्षा एक स्वतंत्र विषय न भी हो तो भी विद्यालयी शिक्षा में मनोवैज्ञानिक रूप से मूल्यों का समावेश किया जा सकता है। अर्थात् अन्य विषयों को मूल्यपरक बनाया जा सकता है।

2. मूल्य की शिक्षा कोई भी शिक्षक दे सकता है।

3. मूल्य शिक्षा को केवल संज्ञानात्मक स्तर पर ही नहीं बल्कि क्रियात्मक स्तर पर दृष्टिगत हो, ऐसा प्रयास होना चाहिए।

4. मूल्य शिक्षा विद्यार्थियों की परिपक्वता स्तर के अनुरूप होनी चाहिए।

5. विद्यालयी वातावरण के साथ पारिवारिक वातावरण भी मूल्य शिक्षा को विकसित कर सकता है। अत: अभिभावकों का सहयोग भी आवश्यक माना जाता है।

6. मूल्य शिक्षा का संबंध सामाजिक परिवेश से होना चाहिए। अर्थात् समाज की स्थिति अथवा सामाजिक दशा के अनुरूप मूल्य शिक्षा होनी चाहिए। मूल्य शिक्षा धार्मिक शिक्षा नहीं है, किसी सम्प्रदाय विशेष की शिक्षा नहीं है वरन् यह सभी धर्मों के मूल हार्द की शिक्षा है, मानव जीवन की शिक्षा है।

7. मूल्यों से संबंधित समस्याओं पर नि:संकोच स्पष्ट चर्चा होनी चाहिए।

8. मूल्य शिक्षा की अपनी स्वतंत्र विचारधारा होनी चाहिए। अर्थात् यह किसी व्यक्ति विशेष की विचारधारा न होकर सार्वजनिक हित को दृष्टि में रखकर होनी चाहिए।

9. मूल्य शिक्षा देते समय सामाजिक उत्तरदायित्व पर बल देना चाहिए।

10. मूल्य शिक्षा यथार्थपरक परिस्थितियों पर आधारित होनी चाहिए।

11. मूल्यों को थोपा नहीं जा सकता है। अत: विद्यार्थियों में रुचि जागृत करने का प्रयास करना चाहिए।

12. मूल्य शिक्षा हेतु विद्यालयी स्तर पर शिक्षकों तथा प्राचार्य के मध्य समय-समय पर विचार-विमर्श होना चाहिए।

13. विद्यालयी स्तर पर मूल्यों का मूल्यांकन भी होना चाहिए।

अत: उपरोक्त नियमों को ध्यान में रखते हुए विद्यालयी स्तर पर मूल्य शिक्षा का प्रयास होना चाहिए। शिक्षा में मूल्यों की शिक्षा दो स्तरों पर विभाजित की गई है—एक है मूल्य शिक्षा और दूसरी है मूल्यपरक शिक्षा। मूल्य शिक्षा अन्य विषयों की तरह ही एक स्वतंत्र विषय के रूप में है तो मूल्यपरक शिक्षा स्वतंत्र विषय न होकर अन्य विषयों में ही मनोवैज्ञानिक ढंग से मूल्यों का समावेश है। शायद कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिसमें मूल्यों का समावेश न होता हो। इसका कारण है कि प्रत्येक विषय के अपने नियम होते हैं। ये नियम ही उस विषय के मूल्यों का आधार बन सकते हैं। यदि उस विषय में स्वत: ही मूल्य निर्धारित हों तब तो समस्या ही नहीं है और यदि मूल्य नहीं हैं तो उन्हें जोड़ा जा सकता है। अत: विद्यालयी स्तर पर मूल्य शिक्षा के लिए आवश्यक प्रयास होने चाहिए।

4.0 मूल्यों के विकास में परिवार की भूमिका

कहा गया है कि परिवार ही बच्चे की प्रथम पाठशाला होती है। पारिवारिक वातावरण में ही बच्चा आचार-व्यवहार के तौर-तरीके सीखता है। उसके संस्कारों का निर्माण भी परिवार में ही होता है। अत: परिवार का वातावरण सकारात्मक होना बहुत आवश्यक है। सामंजस्य, मैत्री, करुणा, कर्त्तव्यनिष्ठा, सहयोग आदि अनेक मूल्य हैं, जो परिवार से ही सीखे जाते हैं। इसलिए परिवार का यह प्रयास रहना चाहिए कि वे अपनी पीढ़ी को अच्छे संस्कार दें, जिससे उनके भीतर मूल्यों की भावना जाग्रत हो सके तथा उनका जीवन सफल एवं सुखी हो सके। इस संदर्भ में परिवार द्वारा मूल्य विकास की प्रक्रिया को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

4.1 परंपरागत मूल्यों के प्रति आस्थावान बनाना

परिवार का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी सन्तान को परंपरागत मूल्यों के प्रति आस्थावान बनाए। ये परम्परागत मूल्य आचार-व्यवहार को सुनियोजित रखते हैं, सुव्यवस्थित रखते हैं तथा मार्गदर्शन करते हैं। अत: इन मूल्यों के प्रति आस्थावान बनाने की प्रक्रिया में अंधानुकरण का समावेश नहीं होना चाहिए। वे ही परंपरागत मूल्य आवश्यक हैं, वे ही उपयोगी हैं जो वास्तव में तर्क की कसौटी पर कसे जा सकते हों। यों तो परंपरागत अनेक मान्यताएँ ऐसी हैं जिनका कोई ठोस प्रमाण नहीं, जिसका कोई ठोस तर्क नहीं वरन् उनका केवल निर्वहन मात्र किया जाता है। अत: इससे बचना चाहिए। परिवार द्वारा उन मूल्यों में आस्था पैदा करना चाहिए जो देशकाल परिस्थिति तथा यथार्थ परिस्थितियों पर आधारित हों। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यदि दृष्टिपात किया जाए तो मूल्यों में आस्था का अभाव एक बहुत बड़ी समस्या है। भौतिकता की चकाचौंध में मूल्य एक कल्पना कही जा सकती है। भौतिक जगत् आकर्षण का जगत् है। मूल्यों में आकर्षण नहीं है। मूल्य यथार्थ के धरातल पर होते हैं। ये व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। व्यवहार का अंग बन जाने पर मूल्य व्यक्ति को शाश्वत सुख देते हैं। वर्तमान समय में मूल्यों में से विश्वास उठना एक बड़ी समस्या है। अत: जब तक इन मूल्यों में विश्वास नहीं होगा तब तक इनको व्यवहारगत भी नहीं बनाया जा सकता है। इसलिए परिवार का यह दायित्व बनता है कि मूल्यों के प्रति आस्था भाव बनाना। यह उनका परम कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त उन्हें परंपरागत मूल्यों की वर्तमान समय में प्रासंगिकता पर विचार करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। साथ ही पुरातन मूल्यों को जो वास्तव में जीवन के पथ प्रदर्शक हैं, उनको अपने जीवन में स्थान देना चाहिए।

4.2 पारिवारिक वातावरण में मूल्यों को स्थान देना

परिवार में मूल्यों को स्थान देना बहुत आवश्यक है। जो माता-पिता अपनी सन्तान को कोरे उपदेश देते हैं, उनका स्थाई प्रभाव नहीं पड़ता है। परिवार का वातावरण शांतिपूर्ण, मैत्रीपूर्ण होना चाहिए। जिन परिवारों में नशा, चोरी, हिंसा, असत्य आदि बुराइयां पहले से ही व्याप्त होंगी, वहां की पीढ़ी पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा ही। कुछ अपवाद हो सकते हैं जो ऐसे परिवारों से भी सच्चरित्र बन सकते हैं। परिवार में एक-दूसरे के हितों की रक्षा करना महत्त्वपूर्ण माना जाता है। परिवार में बड़े-बुजुर्गों को सम्मान देना एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष है। पारस्परिक सम्मान और सौहार्द से परिपूर्ण पारिवारिक वातावरण मूल्यों के विकास में सहयोगी बन सकता है। छोटा बच्चा परिवार के सदस्यों के साथ अधिक समय व्यतीत करता है। अत: उन्हीं के अनुरूप उसका आचरण होता है। अत: परिवार को अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए। मूल्यों की महत्ता को समझकर जब वे ऐसा पारिवारिक वातावरण बनाएँगे तो बहुत हद तक सफलता मिल सकेगी।

4.3 आपसी विचार-विमर्श करना

परिवार में सदस्यों का आपसी विचार-विमर्श भी मूल्य विकास में सहायक हो सकता है। परिवार में माता-पिता की इच्छाएँ-अपेक्षाएँ भिन्न होती हैं, बच्चों की भिन्न। ऐसे में एक संघर्ष का उत्पन्न होना स्वाभाविक भी हो सकता है। अत: ऐसे समय पर आपसी विचार-विमर्श एक समाधान दे सकता है। इससे मूल्य संघर्ष जैसी स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकेगी। आपसी विचार-विमर्श अनेक गुत्थियों को सुलझाने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

4.4 बच्चों के प्रति जागरूकता

माता-पिता का इतना ही कर्त्तव्य नहीं है कि वे बच्चों को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति भर कर दें। उनका यह भी कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों के आचार-व्यवहार, उनकी संगति तथा उनके क्रियाकलापों के प्रति भी जागरूक रहें। इससे यह फलित हो सकता है कि बच्चा बुरी संगति का शिकार नहीं होगा। वह स्वयं भी अपने प्रति जागरूक रहेगा। वर्तमान आपाधापी के इस युग में माता-पिता के पास इतना समय ही नहीं होता है कि वे अपने बच्चों की ओर भी ध्यान दे सकें। फिर भी यह आवश्यक है कि माता-पिता की जागरूकता बच्चे को गलत राह से रोकेगी। साथ ही माता-पिता की यह जागरूकता समय-समय पर बच्चों की उचित आवश्यकताओं की भी पूर्ति करती रहेगी तो परिणाम सन्तोषजनक हो सकेंगे।

4.5 स्वतंत्र निर्णय लेने का अवसर देना

बच्चों में उत्तरदायी भावना को पैदा करने के लिए उनहें स्वतंत्र निर्णय लेने का भी अवसर देना चाहिए। स्वतंत्र निर्णय विचारपूर्वक होगा तो सफलता मिलेगी। यदि निर्णय अविवेकपूर्ण होगा तो इसका दुष्परिणाम भी स्वयं को ही भोगना होगा। स्वयं के निर्णय का परिणाम बच्चों को उचित-अनुचित का ज्ञान कराएगा क्योंकि यह उनका अनुभवजन्य ज्ञान होगा। अत: बच्चों को स्वतंत्र निर्णय लेने का भी अवसर यथासमय देते रहना चाहिए। प्रारंभ छोटे-छोटे निर्णयों से होनी चाहिए। उचित-अनुचित का बोध ा हो जाने पर बच्चा उचित को चुनेगा।

4.6 रुचि पैदा करना

बच्चों में मूल्यों को विकसित करने के लिए उनमें रुचि का होना भी आवश्यक है। रुचि के अभाव में मूल्यवान वस्तु का भी कोई मूल्य नहीं रह जाता है। अत: माता-पिता को बच्चों में मूल्यों की ओर रुचि पैदा करने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए उन्हें मूल्य संबंधी साहित्य देना चाहिए। स्वयं भी मूल्यपरक उदाहरणों के द्वारा उन्हें कहानी, कविता आदि सुनाने का प्रयास करें अथवा ऐसे तौर-तरीकों जिसमें बच्चों का रुझान हो, उसी प्रक्रिया का उपयोग करना चाहिए।

4.7 आत्मविश्लेषण की प्रेरणा देना

आत्मविश्लेषण के द्वारा बच्चा अपने बारे में सोचने का प्रयास करेगा, अपनी अच्छाइयों तथा अपनी बुराइयों को भी जान सकेगा। अत: उसे अपने व्यवहार का मूल्यांकन स्वयं करने की प्रेरणा देनी चाहिए। इसमें सहायक हो सकता है उसका लेखन। वह अपने अनुभवों को लिखता है तो इससे स्व-मूल्यांकन स्वयं हो सकेगा तथा उचित-अनुचित को जानने की भावना का विकास हो सकेगा, स्वयं को टटोलने का प्रयास हो सकेगा। इससे स्वयं को उचित मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

4.8 पुरस्कृत करना

जब बच्चा अच्छे कार्य करता है तो उसे पुरस्कृत करके भी उसकी कामनाओं को और सुदृढ़ बनाया जा सकता है। पुरस्कार मनोबल को बढ़ाता है। अत: बच्चा इस पुरस्कार से सुखद अनुभव करेगा तथा और अच्छा कार्य करने की प्रेरणा उसे मिलेगी। यह सत्य भी है कि पुरस्कार आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। दण्ड व्यवहार को नियंत्रित रखता है क्योंकि उसमें सुख की अनुभूति नहीं होती है। अत: माता-पिता अपने बच्चों को उचित कार्य के लिए पुरस्कृत भी कर सकते हैं।

4.9 अन्य सुधार कार्यक्रम करना

माता-पिता अन्य लोगों के साथ मिलकर भी विचार-विमर्श कर अनेक कार्यक्रमों के द्वारा मूल्यों का विकास करने में सफल हो सकते हैं। सभी माता-पिता एक सामूहिक मंच से अनेक कार्यक्रमों को बढ़ावा देकर अच्छे परिणामों को प्राप्त कर सकते हैं।

उपरोक्त बिन्दुओं को स्पष्ट करने के बाद कहा जा सकता है कि ऐसे और भी अन्य उपाय हो सकते हैं जिनके द्वारा माता-पिता अपने बच्चों को सही दिशा-निर्देश कराने में सफल हो सकते हैं। प्रयास परिवार से ही होना चाहिए। अत: यह परिवार पर निर्भर करता है कि वह किस हद तक अपने कर्त्तव्य का प्रामाणिकता से निर्वहन करे जिससे सुखद परिणाम प्राप्त हो सकें।

5.0 मूल्यों के विकास में समाज की भूमिका

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर ही वह अपना विकास कर सकता है क्योंकि उसकी अधिकाधिक आवश्यकताओं की पूर्ति समाज में रहकर ही होती है। अत: समाज के साथ व्यक्ति का अन्योन्याश्रित संबंध जुड़ा हुआ है। यह समाज व्यवस्था पर निर्भर करता है कि प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति कर पा रहा है अथवा नहीं। फिर भी यह अपेक्षा की जाती है कि सामाजिक व्यवस्था सुदृढ़ हो। व्यवस्थित हो तथा सबके हित में हो। समाज को भी स्वस्थ और रुग्ण दो भागों में बांटा जा सकता है। **स्वस्थ समाज वह समाज होता है जहाँ मूल्यों की प्रधानता होती है तथा रुग्ण समाज वह समाज होता है जहां मूल्यों का ह्रास होता है।** ऐसा समाज पतन की ओर जाता है। व्यक्ति भले ही पतन की ओर न जाना चाहे लेकिन समाज का ढांचा ही ऐसा होता है कि वह विकास नहीं कर सकता है। स्पष्ट है कि समाज की गतिविधियों का व्यक्ति के जीवन में महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अत: इस सन्दर्भ में मूल्यों के विकास में समाज के योगदान को निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

1. सामाजिक संवेदना—समाज संबंधों का जाल है। एक-दूसरे की आवश्यकता है। अत: आवश्यकता पूर्ति समाज में ही हो सकती है। यह तभी संभव है जब **व्यक्ति का एक-दूसरे के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध हो। इस सौहार्दपूर्ण संबंधों में ही संवेदना के बीज निहित रहते हैं।** संवेदना तो पशुओं में भी पाई जाती है। अपने क्रियाकलापों द्वारा वे भी इसे व्यक्त करते हैं। व्यक्ति तो विवेकशील प्राणी माना जाता है। अत: उसके भीतर संवेदना का न होना असंभव है। सामाजिक स्तर पर एक-दूसरे के प्रति इस भावना का विकास मूल्यों की दिशा में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आर्थिक रूप से सम्पन्न व्यक्ति कुछ समय के लिए यह सोच सकता है कि उसे अन्य व्यक्तियों से कोई लेना-देना नहीं है। यह सोच अस्थाई हो सकती है, स्थाई नहीं क्योंकि आर्थिक संपन्नता संवेदना को नहीं खरीद सकती है। अर्थ की भी अपनी सीमा होती है। उसी दायरे में रहकर उसका मूल्य होता है, उससे बाहर नहीं। आत्मीय संवेदनाओं का मूल्य अर्थ के द्वारा नहीं आंका जा सकता है। अत: आत्मीय संवेदना व्यक्ति को जोड़ती है, तोड़ती नहीं। संवेदना होती है तो व्यक्ति किसी भी रूप में एक-दूसरे के काम आ सकता है, अपनी शक्ति से, धन से, मधुर बोली से आदि। अत: समाज में संवेदनशीलता एक-दूसरे में अनेक मूल्यों को बढ़ावा दे सकती है। इसी के द्वारा कर्त्तव्यनिष्ठा, मैत्री, अहिंसा, सत्य, परोपकार, त्याग आदि मूल्यों का विकास स्वत: होने लगता है। **जिस समाज में संवेदनशीलता का अभाव होगा वहां व्यक्ति केवल स्वार्थ प्रवृत्ति को ही जन्म देगा। इससे समाज में अनेक विकृतियां उत्पन्न होंगी।** विकृतियों के रहते हुए समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। इसके विपरीत स्वार्थ से परमार्थ चेतना का विकास ही सबके हित में सहायक होता है। यह स्पष्ट है कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। चाहे प्रभाव सकारात्मक हो अथवा नकारात्मक। सकारात्मक प्रभाव के द्वारा नकारात्मक प्रभाव को खत्म किया जा सकता है। अत: सामाजिक संवेदना के द्वारा मूल्यों का विकास व्यक्ति ही नहीं पूरे समाज, राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय हितों में सहायक होगा। इसके द्वारा नई पीढ़ी के जीवन में भी इनका प्रभाव आसानी से होगा। बच्चा वही करता है जो वह बड़ों से देखता है। अत: बड़ों की यह जिम्मेदारी बन जाती है कि वह वर्तमान को सफल बनाने का प्रयास करें ही, भविष्य के लिए भी जागरूक रहें। आत्मीय संवेदना में बुरे को भी अच्छा बनाने का गुण विद्यमान रहता

है। इसके साक्षात् उदाहरण हमारे महापुरुष हैं जिनकी आत्मीय संवेदना समाज को सुधारने में प्रयासरत रहती है। अत: आवश्यकता है **व्यक्ति संकुचित सोच का त्याग कर व्यापक सोच को जीवन का अंग बनाए।** इसका परिणाम होगा—सामाजिक एकता, सामाजिक संगठन, सामाजिक शक्ति जो हर प्रकार से समाज को नई दिशा देगा। इसका परिणाम सभी व्यक्तियों के लिए हितकर होगा।

2. स्वास्थ्य संबंधी क्रियाकलाप—कहा गया है कि स्वास्थ्य ही धन है। यह स्पष्ट है कि स्वास्थ्य के रहते हुए ही वस्तु का मूल्य है, स्वास्थ्य के अभाव में नहीं। अत: स्वास्थ्य व्यक्ति के व्यवहार को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। मूल्यों के विकास में भी स्वास्थ्य का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इस स्वास्थ्य की रक्षा करना व्यक्ति का वैयक्तिक कर्त्तव्य तो है ही, साथ ही सामाजिक स्तर पर भी इसके लिए प्रयास कारगर सिद्ध हो सकते हैं। अत: सामाजिक स्तर पर भी स्वास्थ्य संबंधी क्रियाकलापों का आयोजन होना चाहिए। ये क्रियाकलाप दैनिक भी हो सकते हैं और सम-सामयिक भी हो सकते हैं; यथा—व्यायामशाला, क्रीड़ास्थल, मनोरंजन कार्यक्रम आदि। इनसे जुड़ा रहने का सीधा संबंध शरीर, मन तथा भावों से है। इन तीनों की समग्र स्वस्थता व्यक्ति के व्यवहार को भी प्रभावित करती है। व्यक्ति के जीवन में अनेक संघर्ष चलते रहते हैं। इनका समुचित उपचार ही समस्या का समाधान है। अत: शरीर की सक्रियता, मन की एकाग्रता तथा भावों का सन्तुलन सन्तुलित व्यक्तित्व के लिए आवश्यक हैं। स्वास्थ्य संवर्धक क्रियाकलापों के द्वारा व्यक्ति अपनी शक्ति को जागृत कर सकता है तथा उनका समुचित उपयोग कर सकता है। अत: शरीर, मन तथा भावों की स्वस्थता ही मूल्यों को जन्म देती है।

3. प्रतियोगिता—सामाजिक स्तर पर अनेक प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जा सकता है। इसमें से प्रमुख हैं—वाद-विवाद प्रतियोगिता, खेल प्रतियोगिता, निबंध प्रतियोगिता आदि। वाद-विवाद प्रतियोगिताओं के द्वारा मूल्य विषयक विचार-विमर्श को केन्द्र में रखा जा सकता है। इससे प्रतियोगी अपने ज्ञान का उपयोग कर सकेगा, सोचने के लिए प्रयास करेगा। साथ ही अन्य प्रतियोगियों के विचारों को सुनकर अपने ज्ञान को बढ़ा सकेगा तथा एक स्वतंत्र निर्णय लेने में समर्थ हो सकेगा। अत: ऐसी प्रतियोगिता का आयोजन समय-समय पर होने से एक नई सोच का विकास होगा। इसके अतिरिक्त भी कई प्रतियोगिताएँ हैं जिनमें व्यक्ति मानसिक रूप से तैयार रहने का प्रयास करता है। ये प्रतियोगिताएँ व्यक्ति में एक उत्साह पैदा करती हैं, आशावादी बनाती हैं साथ ही मनोबल को बढ़ाती हैं जिससे व्यक्ति प्रसन्नचित्त रहता है। कहा जाता है कि खाली दिमाग शैतान का घर होता है। अत: प्रतियोगिताओं से जुड़ने का सीधा संबध है मन से। मन जिस दिशा में होता है, शक्ति भी उसी दिशा में होती है। अत: सकारात्मक कार्यों के द्वारा मूल्यों का विकास हो सकता है।

4. सम्मेलन—कवि-सम्मेलन, संगीत-सम्मेलन आदि सम्मेलनों के द्वारा भी व्यक्ति की शक्ति को सकारात्मक पथ में प्रवाहित किया जा सकता है। इन सम्मेलनों के द्वारा रचनात्मक विकास हो सकता है। रचनात्मक कार्य स्वस्थता के लिए महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। अत: विभिन्न प्रकार के सम्मेलन भी मूल्य विकास में सहायक हो सकते हैं।

5. नाटक मंचन—नाटक मंचन के द्वारा मूल्यों को विकसित किया जा सकता है। किसी घटना का मार्मिक चित्रण व्यक्ति की सोच को बदल सकता है। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, विवेकानन्द, गांधी आदि का जीवन चित्रण किया जा सकता है। अत: सामाजिक स्तर पर ऐसे प्रयास हितकर हो सकते हैं।

6. प्रदर्शनी तथा मेले—सामाजिक स्तर पर प्रदर्शनी तथा मेलों के द्वारा भी मूल्यों को विकसित करने का प्रयास किया जा सकता है। हमारे यहां धार्मिक परम्पराओं से मेलों का संबध होता है। अत: विभिन्न प्रकार के मेले अपनी विशेषता लिये हुए होते हैं। इनके द्वारा मूल्यों को सुरक्षित रखा जा सकता है तथा आपसी मेल-मिलाप भी बढ़ता है।

7. राष्ट्रीय उत्सव तथा समारोहों का आयोजन—सामाजिक स्तर पर अनेक उत्सवों द्वारा समारोहों का आयोजन किया जा सकता है। इनके द्वारा सामाजिक मेल-मिलाप को तो बढ़ावा मिलता ही है साथ ही मूल्य भी सुरक्षित रह सकते हैं। इनके द्वारा देशभक्ति, त्याग, समर्पण जैसे मूल्यों का विकास हो सकता है।

8. सच्चरित्र राजनेताओं का चुनाव—समाज की जागरूकता एक सच्चरित्र नेता को चुनने में सहायक हो सकती है। समाज में मूल्यों की प्रतिष्ठा है अथवा मूल्यों के प्रति जागरूकता है तो चुनाव के समय भी वही सकारात्मक दृष्टिकोण का उपयोग हो सकेगा। वरना एक भ्रष्ट व्यक्ति को नेता बनने का अवसर मिल सकेगा जो समाज के लिए समस्या ही पैदा कर सकता है। अत: सामाजिक स्तर पर मूल्यों से ओत-प्रोत व्यक्ति को शासन करने का अवसर देना समाज के हित में होगा।

9. पुरस्कार देना—समाज के स्तर पर व्यक्ति के व्यवहार का मूल्यांकन होता है। अर्थात् व्यक्ति का व्यवहार अच्छा है या बुरा—यह मूल्यांकन समाज करता है। अत: समाज में अच्छे कार्य करने वाले व्यक्तियों को पुरस्कृत किया जा सकता है जिससे प्रेरणा एवं उत्साह की भावना बढ़ती है। इससे दूसरे व्यक्ति भी प्रभावित होते हैं। दण्ड-व्यवस्था भी सामाजिक स्तर पर होती है लेकिन पुरस्कार सकारात्मक प्रभाव के लिए उपयोगी हो सकता है। अत: पुरस्कार व्यक्ति की सोच को सकारात्मक रूप से प्रभावित कर मूल्यों के विकास में सहायक हो सकता है।

उपरोक्त बिन्दुओं को स्पष्ट करने से यह ज्ञात होता है कि समाज में अनेक गतिविधियों के माध्यम से मूल्यों को स्थापित किया जा सकता है। पारम्परिक मूल्यों की रक्षा की जा सकती है तथा वर्तमान की समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

बोध प्रश्न

1. मूल्यों की शिक्षा कौन दे सकता है?
2. बच्चे की प्रथम पाठशाला क्या है?
3. समाज क्या है?
4. सामाजिक स्तर की प्रमुख प्रतियोगिताएँ क्या हैं?
5. व्यक्ति के मूल्यों का मूल्यांकन कौन करता है?

6.0 सारांश

वर्तमान समय में शिक्षा जगत् में मूल्यशिक्षा पर विशेष चर्चा हो रही है। इसका कारण यह है कि इतने भौतिक विकास के साथ-साथ जीवन का कुछ शिक्षण अछूता रह रहा है या उसे महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। इसी का परिणाम है कि वर्तमान में जीवन के अनेक क्षेत्र अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त हैं। समाज में मूल्यों की अवमानना देखने को मिलती है। शिक्षा प्राप्त व्यक्ति न जाने कितनी समस्याएँ पैदा करता है। सांस्कृतिक संकट की स्थिति भी स्पष्ट है। अत: ऐसे समय में मूल्यों की शिक्षा ही व्यक्ति को सही दिशा दे सकती है।

मूल्य शिक्षा की आवश्यकता

मूल्य शिक्षा की आवश्यकता अनेक दृष्टि से है। जीवनशैली के परिष्कार, उपभोक्तावादी संस्कृति को कम करने, अनैतिकता को दूर करने, अच्छे भविष्य, प्राचीन तथा अर्वाचीन मान्यताओं में समन्वय, स्व-अस्तित्व की पहचानु, मूल्यपरक रोजगारोन्मुखी शिक्षा, सामाजिक पार्थक्य से मुक्ति और सच्चरित्र नागरिकों के निर्माण हेतु, मूल्यों की अत्यन्त आवश्यकता है मूल्य शिक्षा के विद्यालयीकरण के लिए मूल्यों की शिक्षा को विद्यालय का अंग बनाना, विद्यालय स्तर पर मूल्यों के विकास हेतु व्यवस्था करना आदि अपेक्षित है। विद्यालय की पूरी व्यवस्था, पूरा वातावरण मूल्यों से ओत-प्रोत बने, इसके लिए कुछ मुख्य बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक है। जैसे पाठ्यक्रम में मूल्यों का समावेश करना, शिक्षण तकनीक को महत्त्व देना, शिक्षक की भूमिका को प्रभावी बनाना, विद्यालयी कार्यक्रमों में मूल्य को महत्त्व देना एवं विद्यालयी वातावरण में मूल्य को महत्त्व देना।

इन बिन्दुओं पर ध्यान देने एवं इनकी क्रियान्विति करने से मूल्यों का विकास हो सकेगा।

मूल्य शिक्षा एवं निर्देशक नियम

मूल्य शिक्षा देते समय कुछ नियमों को ध्यान में रखना भी आवश्यक समझा जाता है। कुछ मुख्य बिन्दु संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. प्रत्येक विषय में मनोवैज्ञानिक रूप से मूल्यों का समावेश करना।
2. मूल्य शिक्षा का प्रभाव व्यवहारगत हो, इसके लिए भी प्रयास करना।
3. विद्यार्थियों के स्तर को ध्यान में रखना।
4. मूल्य शिक्षा में सामाजिक परिवेश को ध्यान में रखना चाहिए।
5. विद्यार्थियों में मूल्यों के प्रति रुचि को जगाना चाहिए।
6. मूल्य शिक्षा का मूल्यांकन भी होना चाहिए।

मूल्यों के विकास में परिवार की भूमिका

परिवार बच्चे की प्रथम पाठशाला होती है। वहीं से उसका सामाजिकरण प्रारंभ होता है। अत: परिवार का योगदान मूल्य विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके लिए मुख्य बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक समझा जाता है—परम्परागत मूल्यों के प्रति आस्थावान बनाना, परिवारिक वातावरण में मूल्यों को स्थान देना, आपसी विचार-विमर्श करना, बच्चों के प्रति जागरूकता रखना, स्वतंत्र निर्णय लेने का अवसर देना, रुचि पैदा करना, आत्म-विश्लेषण की प्रेरणा देना, पुरस्कृत करना, अन्य सुधार कार्यक्रम करना आदि।

मूल्यों के विकास में समाज की भूमिका

समाज संबंधों का जाल है। व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति समाज में ही होती है। अत: समाज में मूल्यों को महत्त्व देने से स्वस्थ समाज की रचना हो सकती है, जिससे व्यक्ति का जीवन सुख-चैन पूर्ण हो सकता है। मूल्य विकास के लिए सामाजिक स्तर पर भी कुछ प्रयास आवश्यक हैं—सामाजिक संवेदना का होना, स्वास्थ्य संबंधी क्रियाकलाप, प्रतियोगिताएँ, सम्मेलन, नाटक मंचन, प्रदर्शनी तथा मेले, राष्ट्रीय उत्सव तथा समारोहों का आयोजन, सच्चरित्र नेता का चुनाव, पुरस्कार देना आदि।

इस प्रकार उपरोक्त बिन्दुओं में मूल्य शिक्षा संबंधी महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को संक्षिप्त रूप में समझा जा सकता है।

प्रश्नावली

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मूल्य शिक्षा की आवश्यकता क्यों है?
2. मूल्यों की शिक्षा को विद्यालय स्तर पर कैसे विकसित किया जा सकता है?

निबंधात्मक प्रश्न

1. मूल्य-शिक्षा के विकास में परिवार व समाज की भूमिका बताइये।

इकाई–2– जीवन विज्ञान और मूल्य

पाठ–3– जीवन विज्ञान और शिक्षा

रूपरेखा

1.0 वर्तमान शिक्षा प्रणाली की समस्याएँ

2.0 जीवन विज्ञान शिक्षा की अनिवार्यता

3.0 जीवन विज्ञान शिक्षा का स्वरूप

4.0 जीवन विज्ञान शिक्षा : आधार और प्रक्रिया

5.0 सारांश

उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. वर्तमान शिक्षा प्रणाली की समस्याओं को समझा जा सकता है,
2. जीवन विज्ञान शिक्षा की अनिवार्यता को समझा जा सकता है,
3. जीवन विज्ञान के स्वरूप को समझा जा सकता है,
4. जीवन विज्ञान के आधार और प्रक्रिया को समझा जा सकता है।

भूमिका

मूल्यों का संबंध शिक्षा से है। अर्थात् मूल्यों का विकास शिक्षा से संभव हो सकता है। इसलिए शिक्षा और मूल्य को अलग नहीं किया जा सकता है। शिक्षा में मूल्यों को जितना ही महत्त्व दिया जाएगा, उसका परिणाम भी उतना सुखकर होगा। वर्तमान शिक्षा की कुछ विसंगतियों को दूर करने हेतु शिक्षा में मूल्यों को स्थान देना आवश्यक समझा जाता है। जीवन विज्ञान शिक्षा जगत् में एक ऐसी शिक्षा शाखा है जो वर्तमान शिक्षा की समस्याओं का समाधान तो करती है, साथ ही व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनेक पक्षों को विकसित तथा संतुलित रखती है। जीवन विज्ञान की शिक्षा आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक व्यक्तित्व के विकास को महत्त्वपूर्ण स्थान देती है। यह शिक्षा मूल्यों पर आधारित है, ध्यान एवं योग पर आधारित है। अत: इसमें व्यक्ति के आंतरिक पक्ष की विशुद्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह शिक्षा नाड़ीतंत्र एवं ग्रंथितंत्र के संतुलन में सहायक बनती है तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अचेतन को परिष्कृत करती है और आध्यात्मिक दृष्टि से यह शिक्षार्थी को स्वयं से परिचित कराती है, आन्तरिक कषायों अथवा विकारों का शोधन करती है और मूल्यों को विकसित करती है। जीवन विज्ञान की शिक्षा में आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने मूल्यों को विशेष स्थान दिया है और इनके विकास की समुचित व्यवस्था भी की है। प्रस्तुत पाठ में शिक्षा की समस्याएँ तथा जीवन विज्ञान की अनिवार्यता आदि बिन्दुओं को स्पष्ट किया जा रहा है।

1.0 वर्तमान शिक्षा प्रणाली की समस्याएँ

शिक्षा समस्या नहीं स्वयं समाधान है। समाधान इसलिए है कि वह ज्ञान है। शिक्षा में यह क्षमता है कि वह व्यक्ति के भीतर की सुप्त शक्तियों को जागृत कर उसे पशुत्व से दिव्य मानव की ओर ले जाती है। यदि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस पर विचार किया जाए तो हमारी शिक्षा प्रणाली से ये अपेक्षाएँ पूरी नहीं हो पा रही हैं। शिक्षा जगत् के समक्ष अनेक समस्याएँ विकराल रूप धारण किये हुए हैं। उनमें अनुशासनहीनता एक प्रमुख समस्या है जिसके कारण तोड़-फोड़, तालाबंदी, घेराव, हिंसात्मक प्रतिरोध ा घटित होते हैं। यदि इन समस्याओं के मूल में देखा जाए तो कई ऐसे कारण हैं जिनसे शिक्षा व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगा हुआ है। इसका प्रमुख कारण है हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली में उन तत्त्वों का अभाव है जो व्यक्ति को आन्तरिक तथा बाह्य जगत् का ज्ञान कराए, सही अर्थों में मानव का निर्माण करने में सहायक हो, दिव्यता की ओर ले जाने में सहायता करे। आजादी के

बाद शिक्षा के स्वरूप में थोड़ा बहुत परिवर्तन आया लेकिन शिक्षा के प्रति जो दृष्टिकोण होना चाहिए था, वह नहीं अपनाया गया। हमारी शिक्षा व्यवस्था दिग्भ्रमित रही और लार्ड मैकाले की शिक्षा व्यवस्था अभी तक जीवित है।

हमारी शिक्षा व्यवस्था को भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में पुनः प्रतिष्ठापित करने हेतु, इसको सुदृढ़ बनाने हेतु तथा इसकी कमियों को दूर करने हेतु समय-समय पर विचारकों, चिंतकों, शिक्षाशास्त्रियों तथा बुद्धिजीवियों ने तो अपना विशेष योगदान दिया ही है, साथ ही धर्मगुरुओं ने भी शिक्षा में उन तत्त्वों को जोड़ने पर बल दिया है जो मानव विकास के लिए आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी हैं। इतना होने पर भी दुर्भाग्य से हमारी शिक्षा में कुछ पक्षों के प्रति उपेक्षा का भाव ही देखने को मिलता है। स्वतंत्रता के पश्चात् विकास के कई आयाम खुले, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति के नए द्वार खुले लेकिन व्यक्तित्व को संतुलित करने वाले पक्षों के प्रति न्यायपूर्ण दृष्टिकोण का अभाव रहा है। ऐसे में शिक्षा के अच्छे परिणामों की आशा करना कलोल कल्पना ही लगती है। विचारकों ने शिक्षा व्यवस्था की कमियों को ही इंगित नहीं किया है वरन् साथ में समाधान भी प्रस्तुत किए हैं। यदि वर्तमान की शिक्षा प्रणाली की समस्याओं पर विचार किया जाए तो अनेक समस्याएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

1.1 सर्वांगीण एवं संतुलित व्यक्तित्व विकास की उपेक्षा

सामान्यतया व्यक्तित्व को परिभाषित करना सरल कार्य नहीं है। अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से इसे प्रस्तुत किया है। कहीं इसे किसी भी व्यक्ति की प्राणिशास्त्रीय जन्मजात प्रवृत्तियों, आवेगों, स्वभाव, झुकाव और अंतर्वृत्तियों तथा उसकी जन्मजात प्रवृत्तियों का सर्वयोग माना है तो कहीं व्यक्ति में निहित समस्त गुणों का समुच्चय जिसके द्वारा वह वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। डॉ. वैद्यनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार 'व्यक्तित्व शब्द में उन सभी बातों का बोध एवं ज्ञान होता है जो हमारे अंतर्गत हैं और जिनका हम अभिमान करते हैं। हमारे शरीर, मन और चरित्र सभी विषयों का समावेश व्यक्तित्व शब्द में होता है। मनुष्य की संवेदनाएँ, मूल प्रवृत्तियां, उद्वेग, प्रत्यक्षीकरण, कल्पना, स्मृति, बुद्धि तथा विवेक सभी मानसिक शक्तियों का संबोधन और परिलक्षण केवल एक शब्द व्यक्तित्व में अंतर्निहित है। अतः कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व की सीमा संकुचित नहीं, व्यापक है। इसी कारण से व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया भी अल्पकालिक प्रक्रिया न होकर दीर्घकालिक एवं निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को विकसित करने हेतु प्रारंभ से समुचित शिक्षा का प्रबंधन हो तभी भविष्य में उसका परिणाम मिल सकता है। हमारी आज की शिक्षा पद्धति में व्यक्तित्व के विकास के साधनों का सर्वथा अभाव है। इसकी तीव्र प्रतिक्रिया करते हुए कहा गया है—इसी कारण देश की वर्तमान शिक्षा प्रणाली अव्यावहारिक, निरुपादेय तथा हानिकर सिद्ध हो रही है जिससे हम भारतीय स्कूली शिक्षा पाकर भी जीवन भर मानव जीवन के व्यावहारिक कार्यों एवं अनुभवों से वंचित रहकर कोरे के कोरे पड़े रह जाते हैं। शिक्षा और मानव जीवन के बीच अव्यवस्थित स्थिति बनी ही रह जाती है। कहा भी गया है कि व्यक्तित्व के निर्माण में सच्ची शिक्षा ही एकमात्र आधार है। बालक-बालिकाओं के शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, नैतिक तथा अन्य व्यक्तिगत एवं सामाजिक गुणों अर्थात् उनके सर्वांगीण एवं संतुलित विकास की शक्ति शिक्षा द्वारा ही संभव है। अतः शिक्षा में व्यक्तित्व विकास से संबंधित तत्त्वों का समावेश अवश्य होना चाहिए। यदि वर्तमान शिक्षा प्रणाली पर दृष्टि डालें तो समाधान नहीं दिखता है।

आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं—हमारी शिक्षा प्रणाली संतुलित नहीं है। संतुलित शिक्षा प्रणाली वह होती है जिसमें व्यक्तित्व के चारों आयाम संतुलित रूप से विकसित होते हैं। शरीर का विकास भी अपेक्षित है, मन का विकास भी अपेक्षित है तथा बुद्धि और भावना का विकास भी अपेक्षित है। आज की शिक्षा में इन चार आयामों में से दो आयामों पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। वे दो आयाम हैं—शारीरिक विकास का आयाम और बौद्धिक विकास का आयाम। शेष दो आयाम उपेक्षित पड़े हैं। आज शरीर का विकास बहुत हुआ है, बौद्धिक विकास भी प्रतिदिन बढ़ रहा है किन्तु मानसिक और भावनात्मक विकास—ये दोनों अविकसित पड़े हुए हैं। शिक्षा प्रणाली का यह असंतुलन है। इससे वर्तमान में शिक्षा के समक्ष अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। विद्यालय से लेकर महाविद्यालय तक अनुशासनहीनता, नशा, मारपीट, तालाबंदी, घेराव आदि समस्याएँ अपना शिकंजा फैलाये हुए हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली लार्ड मैकाले की शिक्षा पद्धति पर आधारित है जिसमें कुछ विशेष पक्षों पर ही ध्यान दिया गया है। इस स्थिति को बदलने के लिए भारतीय मूल्यों की बात तो सभी करते हैं पर शिक्षा में उन मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने की कोई तकनीक नहीं जोड़ पाए हैं। सर्वांगीण एवं संतुलित व्यक्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि प्रारम्भ से शिक्षा में तत्संबंधी तत्त्वों का समावेश हो। **प्रो. हेमेल के शब्दों में संतुलित व्यक्तित्व संतुलित शारीरिक प्रणाली के समान है। ऐसा व्यक्तित्व विपरीत और दबाव के समय अत्यंत सुस्थिर रूप में उपस्थित रहता है। हम संतुलित व्यक्तित्व की खोज छाया से ढके हुए सुखद मार्गों पर या विश्राम में नहीं करते अपितु इसकी खोज जीवन की आंधियों और तूफानों में करते हैं।** वास्तव

में यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है कि विषम परिस्थितियों में ही व्यक्तित्व की सच्ची पहचान होती है। अत: शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों में प्रारंभ से जीवन की सच्चाई से जूझने, विषम परिस्थितियों में संतुलन स्थापित करने का ज्ञान प्राप्त हो, ऐसा प्रयास अवश्य होना चाहिए।

वर्तमान में हमारी शिक्षा व्यवस्था में इन तत्त्वों का अभाव ही देखने को मिलता है। यदि इस ओर भी थोड़ा बहुत ध्यान दिया जाता तो कुछ-न-कुछ सुपरिणाम अवश्य ही परिलक्षित होते। व्यक्तित्व के विकास से ही एक साधारण मानव पूर्ण मानव बन सकता है। ऐसा नहीं है कि इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। ध्यान अवश्य दिया जाता है पर ठोस आधार के अभाव में क्रियान्विति का पक्ष भी स्वत: ही लड़खड़ा जाता है।

1.2 चारित्रिक पक्ष की उपेक्षा

चरित्र को जीवन की मौलिक वस्तु माना गया है। चरित्र ही व्यक्ति के सुख-दु:ख के लिए जिम्मेदार होता है। चरित्र को आदतों का समुच्चय माना गया है। अच्छी आदतों से अच्छे चरित्र का निर्माण होता है तो बुरी आदतों से बुरे चरित्र का। मेक्डूगल ने चरित्र को स्थाई भाव का संगठन माना है। स्थाई भाव का निर्माण उसी प्रकार होता है जिस प्रकार किसी विशेष काम करने की आदत का निर्माण होता है। वस्तुत: प्रत्येक आदत का संबंध किसी-न-किसी स्थाई भाव से रहता है। आदत तभी तक जीवित रहती है जब तक उससे संबंधित रागात्मक मनोवृत्ति नष्ट नहीं होती। रागात्मक मनोवृत्ति के नष्ट होते ही आदत भी नष्ट हो जाती है और इसके नष्ट होते ही आचरण का आधार भी समाप्त हो जाता है। अर्थात् जो आदत व्यक्ति को अच्छी लगती है, उसी के अनुरूप वह क्रिया करता है। साथ ही उस आदत को आसानी से छोड़ भी नहीं सकता है। आदत के प्रति इस तरह की मनोवृत्ति ही रागात्मक मनोवृत्ति है। आदत के प्रति रागात्मक अथवा मोहात्मक संबंध ही आचरण का कारण बनता है। भले ही आदत अच्छी हो अथवा बुरी। अत: कहा जा सकता है कि अच्छे चरित्र के साथ बुद्धि सम्पन्नता का अनुबन्ध नहीं जुड़ा होता है अर्थात् एक प्रखर एवं बुद्धिमान व्यक्ति का चरित्र भी सदैव अच्छा ही रहे, यह आवश्यक नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हम तब देख सकते हैं जब एक शिक्षित कहलाने वाला व्यक्ति अथवा ऊँचे पद पर कार्य करने वाला अधिकारी भी भ्रष्टाचार में लिप्त रहता है।

शिक्षा का कार्य व्यक्ति को शिक्षित बनाना है, साक्षर नहीं। केवल शिक्षित ही नहीं बल्कि सच्चे अर्थों में शिक्षित (जिसमें आचार पक्ष भी शामिल है) होने पर ही व्यक्ति का व्यक्तित्व उससे प्रभावित होता है। आचरण के अभाव में ज्ञान सूचना का स्थान ले लेता है। वास्तव में यह सत्य ही है कि केवल सूचनाओं को ग्रहण करने मात्र से आन्तरिक परिवर्तन के लिए अधिक अवकाश नहीं रह जाता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार शिक्षा द्वारा केवल ज्ञान में वृद्धि हो रही है, चरित्र का पक्ष उपेक्षित है अथवा जितना विकास ज्ञान के क्षेत्र में हो रहा है, उतना विकास चरित्र विकास के क्षेत्र में नहीं हो रहा है। मस्तिष्क को ज्ञान विकास के लिए अधिक प्रशिक्षित किया जा रहा है। उसे चरित्र विकास के लिए बहुत ही कम प्रशिक्षित किया जा रहा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का यह भी कहना है कि विद्यार्थी को जितना पढ़ाया जा रहा है, उतना आवश्यक नहीं है और जो आवश्यक है, उसे पढ़ाया नहीं जा रहा है। आवश्यकता की कसौटी है जीवन से संबद्धता और समाज से प्रतिबद्धता। श्रम और चरित्र का जीवन से सीधा संबंध है। इतिहास और भूगोल आदि का जीवन से सीधा संबंध नहीं है। एक छोटे विद्यार्थी को जितना इतिहास और भूगोल पढ़ाया जाता है, उतना चरित्र या व्यक्तित्व विकास के बारे में नहीं पढ़ाया जाता। शिक्षक की विवशता है कि वह पाठ्यक्रम से हटकर पढ़ा नहीं सकता अथवा उसके पास अतिरिक्त समय नहीं है। सामाजिक जीवन व्यवहार में नैतिक मूल्यों के विपरीत प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं। एक विद्यार्थी विद्यालय में ईमानदारी का पाठ पढ़ता है और उसके बाहर बेईमानी की घटनाएँ देखता है। इस स्थिति में शिक्षा के क्षेत्र में किये जाने वाले मूल्य विकास के प्रयत्न कैसे सफल हो सकते हैं? अत: कहा जा सकता है कि वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में चारित्रिक पक्ष को उपेक्षित रखा गया है। आचार्यश्री का यह भी मानना है कि शिक्षा के द्वारा मनुष्य शिक्षित कहलाता है और सर्वत्र आदर पाता है। वह आदरास्पद होता है। ज्ञानी (शिक्षित) की अपेक्षा चरित्रवान व्यक्ति अधिक आदरास्पद होता है। ज्ञानी (शिक्षित) के प्रति अंगुलियां उठ सकती हैं किन्तु चरित्रवान के प्रगति सहजतया अंगुलियां नहीं उठतीं। उसके प्रगति सहज आदर भाव होता है। इसलिए शिक्षा के साथ, ज्ञान के साथ चारित्रिक पक्ष का विकास भी आवश्यक है। व्यक्ति की अमूल्य निधि उसका चरित्र ही होता है। यदि इसी में आस्था कम हो जाए अथवा इसे विकसित करने में निराशावादी दृष्टिकोण रखा जाए तो समस्या और जटिल बन जाएगी। शिक्षा प्रणाली में जब चारित्रिक विकास के बीज ही नहीं हैं तब उनकी परिणति साक्षात् कैसे होगी? यह प्रयत्न बीज के बिना फल पाने जैसा है। यदि शिक्षा प्रणाली में चरित्र और अनुशासन के बीज हों किन्तु उनकी निष्पत्ति न आए तो चिंता का विषय हो सकता है। बीज बोने पर भी फसल न हो किसान चिंतित हो जाता है पर बीज बोए ही नहीं पर

फसल की आशा करें, यह वज्र मूर्खता है। हमारी शिक्षा प्रणाली में यही बात दृष्टिगोचर होती है। शिक्षित व्यक्ति से अपेक्षाएँ तो बहुत की जाती हैं पर इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता है कि अपेक्षाओं की पूर्ति का आधारस्तंभ है या नहीं। बीज के बिना फल की आशा असंभव है, यह सर्वविदित है। फिर भी व्यक्ति यह भूल करता है। वर्तमान में यही हो रहा है। वर्तमान में शिक्षा के कई आयाम होने पर भी जीवन का यह पक्ष उपेक्षित रखा गया है।

1.3 केवल पुस्तकीय ज्ञान की महत्ता

वर्तमान में विद्यालयों की संख्या तो बहुत बढ़ी है, विद्यार्थियों की संख्या बढ़ी है, अध्यापकों की संख्या बढ़ी है, साथ ही पाठ्यपुस्तकों की संख्या भी बहुत बढ़ी है पर जो अपेक्षा शिक्षा संस्थानों से की जाती है, वह पूर्ण नहीं हो रही है। विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान पर ही आधारित हो और उस ज्ञान को पुष्ट करने के साधनों का अभाव हो तो पुस्तकीय ज्ञान सूचना बनकर रह जाएगा। कोरे पुस्तकीय ज्ञान को प्राप्त कर लेना अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता। विद्या अर्जन के साथ सतत् अभ्यास की आवश्यकता होती है। वर्तमान शिक्षा में सतत् अभ्यास को नहीं केवल पुस्तकीय ज्ञान को सर्वोपरि स्थान मिला है। इसी का परिणाम कहा जा सकता है कि धर्म, नैतिकता, सत्यनिष्ठा तथा आध्यात्मिकता से हीन वर्तमान शिक्षा राष्ट्र के प्रत्येक स्तर पर अस्थिरता एवं अशांति का निमित्त बन रही है। प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री पाउलो फ्रायरे के अनुसार—'वर्तमान शिक्षा एक बैंकिंग व्यापार है जिसमें कुछ इने-गिने शिक्षक शिक्षार्थी समूह के मस्तिष्क रूपी खाते में अपने संचित शब्दों, वाक्यों और अन्य सिद्धान्तों के स्मरण रूपी ज्ञान को जमा करते हैं। ज्ञान जमा कराना तो एक बात है लेकिन इसका उपयोग दूसरी बात है। वह ज्ञान सतत् अभ्यास का रूप लेकर व्यवहार में परिणत हो, इसका भी प्रावधान आवश्यक है लेकिन ऐसी व्यवस्था नहीं है। अत: हमारी शिक्षा प्रणाली केवल पुस्तकीय ज्ञान तथा उसके रटने, रटाने तक सीमित रह गई है। तीन घंटे की परीक्षा में बौद्धिक ज्ञान का अंकन हो जाता है। उसी के अनुरूप उसकी योग्यताएँ निर्धारित की जाती हैं।

जीवन के अस्तित्व में कई तत्त्वों का योग होता है। चेतना, प्राण, मन, भाव, बुद्धि आदि अस्तित्व को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अत: जीवन विकास के लिए इनको सूक्ष्मता से समझना आवश्यक है। व्यक्ति के विकास में बाह्य परिस्थितियां जितनी उत्तरदायी होती हैं, उससे भी कहीं अधिक उत्तरदायी होती हैं आन्तरिक परिस्थितियां। अत: आंतरिक परिस्थितियों के समाधान के लिए प्रयास अवश्य होना चाहिए। यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है जब व्यक्ति अपने विकास के उन तत्त्वों के अस्तित्व पर शंका व्यक्त करता है जो उसके जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं अथवा यों कहा जा सकता है कि जिनके अभाव में व्यक्ति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। अर्थात् व्यक्ति और पशु की भेदरेखा और करीब हो जाती है। वर्तमान शिक्षा में जीवन के कुछ पक्षों को तो उभार दिया गया लेकिन कुछ पक्षों को आवश्यकता से अधिक उपेक्षित कर दिया गया है। इसी का परिणाम है कि शिक्षा ग्रहण करने पर भी व्यावहारिक पक्ष अछूता रह गया है।

1.4 अभ्यासात्मक पक्ष की उपेक्षा

कहते भी हैं कि करत्-करत् अभ्यास के जड़मति होत सुजान। इस सूत्र को कई व्यक्तियों ने व्यावहारिक धरातल पर उतारा है और इस सूक्ति को सही सिद्ध किया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किसी भी कार्य में दक्ष होने के लिए अभ्यास नितांत आवश्यक होता है। शिक्षा के क्षेत्र में तो यह सूत्र जुड़ा ही हुआ है। ज्ञान प्राप्ति के लिए अभ्यास आवश्यक है। अभ्यास की परिपक्वता ही ज्ञान तथा व्यवहार दोनों ही पक्षों को सुदृढ़ बनाती है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में अभ्यास पक्ष के सन्दर्भ में अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि हमारी शिक्षा प्रणाली में शिक्षा के ग्रहणात्मक पक्ष को ही अधिक स्थान मिला हुआ है लेकिन अभ्यासात्मक पक्ष उपेक्षित रखा गया है। इस असंतुलन का परिणाम हमारी शिक्षा-व्यवस्था के समक्ष एक जटिल समस्या के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जब ज्ञान पक्ष अधिक होने पर भी व्यवहार पक्ष कमजोर ही रह जाता है तब यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि शिक्षा अपने प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर पा रही है। अभ्यास का अर्थ है—पुनरावृत्ति, बार-बार करना। इसी अभ्यास से क्षमता का विकास होता है, शक्ति बढ़ती है। अभ्यास का अर्थ होता है—सन्निधि, निकटता, पास में रहना। उस क्रिया का इतना अभ्यास हो जाए कि क्रिया और करने वाले का तादात्म्य हो जाए, एक हो जाए। अभ्यास के द्वारा ही आचरण, व्यवहार और शब्द को बार-बार दोहराने से यह संस्कार बन जाता है। अभ्यास के बिना संस्कार का निर्माण नहीं होता। अत: संस्कार निर्माण हेतु अभ्यास आवश्यक होता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि शिक्षा प्रत्येक विकास की अधिष्ठात्री रही है। शिक्षा का मूल अर्थ है—अभ्यास। आज यह अर्थ विस्मृत हो गया है। आज शिक्षा का अर्थ है—अध्ययन। आचार्यश्री महाप्रज्ञ अभ्यास के प्रकार बताते हुए कहते हैं कि

अभ्यास दो प्रकार का होता है—ग्रहणात्मक और आसेवनात्मक। पहले ग्रहण करो, जानो और फिर उसका आसेवन करो, प्रयोग करो। आज अभ्यासात्मक शिक्षा छूट गई, ज्ञानात्मक शिक्षा बच गई। शिक्षा का एक चरण टूट गया। वह लंगड़ी हो गई। इसलिए जो शिक्षा का परिणाम आना चाहिए था, वह नहीं आ रहा है।

1.5 सांस्कृतिक मूल्यों की उपेक्षा

संस्कृति प्रत्येक समाज का दर्पण होती है। भारतीय संस्कृति तो स्वत: अपने आप में मूल्यवान है, तत्पश्चात् भी वर्तमान समय भारतीय संस्कृति का संक्रमणकाल माना जा सकता है। आज हम जिस दौर से गुजर रहे हैं वह सांस्कृतिक संघर्ष का युग है, भौतिकता तथा अध्यात्म का संघर्ष है, व्यक्ति और नीति का संघर्ष है, मूल्यों, प्रतिमानों, सिद्धान्तों के प्रत्ययों का संघर्ष है। संघर्षों की प्रक्रिया में मानव दिग्भ्रमित हो गया है। भारत में आज परम्परा और आधुनिकीकरण के बीच संघर्ष चल रहा है। एक ओर परंपरागत विचारधाराओं व प्राचीन संस्कृति के समर्थक प्राचीन मूल्यों, व्यवस्थाओं व व्यवहार के प्रतिमान को बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील हैं, दूसरी ओर राज्य व जनता के प्रबुद्ध नागरिक, आधुनिक देशों के प्रबुद्ध विद्वान तर्क व विकास से परिपूर्ण मूल्यों को भारतीय समाज द्वारा ग्रहण न करने पर बल देते हैं। ये परंपराओं व हमारे हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास को त्याग देने के लिए कहते हैं। वास्तव में यह स्थिति दिग्भ्रमित करने वाली है। इसके उपरांत भी भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को नजरअंदाज करना बहुत बड़ी भूल होगी।

शिक्षा को सामाजीकरण का प्रमुख साधन माना जाता है। नयी पीढ़ी के बालक-बालिकाओं तथा विद्यार्थियों को उनके समाज की परंपरागत संस्कृति की विशेषताओं, आकांक्षाओं से अवगत कराने का कार्य प्राय: शिक्षा का बताया जाता है। इस प्रकार शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित करते समय समाज विशेष की संस्कृति एक प्रमुख निर्धारक बन जाती है। भारतीय शिक्षा-प्रणाली की अभी तक यही आलोचना की जाती है कि यह अंग्रेजों द्वारा ऐसे उद्देश्यों को सामने रखकर बनाई गई थी जिनसे विद्यार्थी अपनी प्राचीन गौरवशाली संस्कृति से अनजान व विमुख बने रहते हैं। वस्तुत: **जिस संस्कृति में हमारा अधिकांश सामाजीकरण होता है उसी के अनुसार शिक्षालयों में भी हमारे विद्यार्थियों का सामाजीकरण होना चाहिए।** उसके लिए यह आवश्यक है कि संस्कृति के महत्त्वपूर्ण मूल्यों को समझने व अपनाने में शिक्षा के पाठ्यक्रम व व्यवस्थाएँ योग दें लेकिन भारत के वर्तमान सामाजिक सन्दर्भ में कई कठिनाइयां सामने आती हैं।

विज्ञान के इस युग में एक देश की संस्कृति का दूसरे देश की संस्कृति के मूल्यों, मान्यताओं आदि का आपस में आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है। प्रत्येक संस्कृति के अपने मूल्य होते हैं, अपनी विचारधाराएँ होती हैं, अपनी मान्यताएँ होती हैं। जाहिर है कि इनमें अन्तर भी अवश्य होता है। यदि अंधानुकरण में हमारी संस्कृति का मूल स्वरूप विलुप्त होने की संभावना होने लगे तो यह शिक्षा-व्यवस्था का ही दोष माना जाएगा। हमारी वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में इस समस्या के समाधान हेतु ऐसे दस्तावेजों को स्थान दिया गया है, कम स्पष्ट है। सांस्कृतिक विरासत को नई पीढ़ी को हस्तगत करना शिक्षा का कार्य है। हमारी शिक्षा व्यवस्था ने स्वतंत्रता के बाद इस ओर कोई ठोस कदम उठाए हों, ऐसा नहीं लगता है। भारतीय संस्कृति में न जाने कितने ही मूल्य भरे पड़े हैं—वैयक्तिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, राजनैतिक मूल्य, आध्यात्मिक मूल्य, शैक्षिक मूल्य आदि-आदि। शिक्षा प्रणाली में इनकी क्या व्यवस्था है—यह खोज का विषय है। आत्मानुशासन जो शिक्षा तंत्र का महत्त्वपूर्ण मूल्य है, उसी की उपेक्षा शिक्षा संस्थानों में आम बात है। यह मूल्य न जाने कितने ही मूल्यों का संवाहक है। फिर भी यह उपेक्षित पड़ा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि आज सबसे बड़ी कमी जो अनुभव में आ रही है, वह यह है कि व्यक्ति में अनुशासन नहीं है। अनुशासन आता है बुद्धि से परे और शिक्षा रह जाती है बुद्धि की सीमा में ही। जब तक व्यक्ति बुद्धि के तट के पार नहीं पहुंचेगा तब तक अनुशासन नहीं आएगा। वर्तमान में ऐसा ही कुछ हो रहा है। इससे स्पष्ट है कि हमारी वर्तमान शिक्षा में सांस्कृतिक मूल्यों के प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था नहीं है।

1.6 आंतरिक विकास की अवहेलना

शिक्षा हेतु कई आयोग गठित होने पर भी आंशिक परिवर्तन ही होता है। इतना भौतिक विकास होने पर भी आन्तरिक विकास नहीं हो पा रहा है जबकि शिक्षा व्यक्ति की अंतर्निहित शक्तियों को प्रस्फुटित करती है, सुप्त शक्तियों को जागृत करती है तथा सद्आचरण करने की ओर प्रेरित करती है। इसके द्वारा ही जीवन में सामंजस्य का विकास किया जा सकता है, समाधान खोजा जा सकता है। किसी भी समस्या का समाधान दो दिशाओं में ही खोजा जा सकता है—बाहर तथा भीतर। वर्तमान शिक्षा प्रणाली

में समस्याओं का समाधान केवल परिस्थितियों, निमित्तों आदि में खोजा जा रहा है। अर्थात् बाहर की ओर समाधान खोजा जा रहा है। भीतर की दिशा को उपेक्षित रखा गया है। जब समस्याओं का समाधान भीतर में निहित होता है तब उसे बाहर खोजना बहुत बड़ी भूल है। आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं कि परिस्थितियों, निमित्तों और समाधानों पर ध्यान दिया जा रहा है पर आंतरिक परिवर्तन या हृदय परिवर्तन की विधियों पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। आज का व्यक्ति निमित्तों को बदलकर सब कुछ करना चाहता है। वह उपादान (आंतरिक कारण) की ओर ध्यान नहीं देता। उसने उपादान को भुला दिया। उपादान को बदले बिना स्थाई समाधान घटित नहीं हो सकता है। यह सत्य है कि आंतरिक परिवर्तन के अभाव में स्थाई परिवर्तन संभव नहीं है। बदलाव का बिन्दु, परिवर्तन तथा परिष्कार का बिन्दु भीतर में निहित है जिसे वर्तमान शिक्षा प्रणाली में जोड़ा नहीं गया है। आंतरिक गुणों का विकास शिक्षा के द्वारा ही संभव है, फिर भी शिक्षा-व्यवस्था में इस हेतु कोई ठोस कदम नहीं उठाए गए हैं। अत: कहा जा सकता है कि शिक्षा में आंतरिक विकास के सूत्रों का अभाव है।

1.7 अचेतन मन के उपयोग की उपेक्षा

मनोविज्ञान के अनुसार मन के तीन स्तर बताये गए हैं—चेतन, अवचेतन तथा अचेतन। अचेतन भाग के द्वारा ही व्यक्ति का व्यवहार नियंत्रित होता है। अर्थात् अचेतन मन में जैसे संस्कार होते हैं, जैसी आदतें होती हैं, व्यक्ति उसी के अनुरूप क्रिया करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि पुस्तकीय शिक्षा, सिद्धान्त, उपदेश और विचार-विनिमय से चेतन भाग को अधिक प्रभावित किया जा रहा है। उसके अचेतन भाग को बहुत कम प्रभावित किया जा रहा है। चरित्र, आदत और संस्कार का संबंध अचेतन भाग से अधिक है। इसका प्रशिक्षण उपेक्षित रहा है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में एक बड़ा भारी दोष यह है कि चेतन मन का लक्ष्य रखकर ही प्रवृत्ति हो रही है किन्तु उच्च नीति और आध्यात्मिकता का जीवन में अभाव दिखाई दे रहा है। चेतन मन का साम्राज्य होने से अचेतन मन मृतप्राय: हो जाता है। जागृत मन से व्यवहार करने वाले बड़े विचारशील माने जाते हैं किन्तु हमेशा संशयी बने रहते हैं। इनमें आंतरिक प्रसन्नता का अभाव रहता है। आत्मविश्वास एवं ईश्वर के प्रति श्रद्धा का लोप हो जाता है। श्रद्धा, भक्ति और प्रेम का अभाव हो जाता है। वे शुष्क तर्क-वितर्क में ही गोते लगाते रहते हैं। जरा-जरा सी बात पर आपे से बाहर हो जाते हैं। जरा-सी विपत्ति आने पर आकाश-पाताल एक कर देते हैं। बाह्य जगत् की प्रत्येक घटना का इनके दुर्बल चित्त पर प्रतिकुल प्रभाव पड़ता है और थोड़ा अधिक श्रम से या रोग से आक्रांत होकर स्नायविक दुर्बलता अर्थात् मज्जातंतु की व्याधि होकर इनकी इच्छा-शक्ति का ह्रास हो जाता है और इनका ज्ञान-तंतु व्यूह और मस्तिष्क इतना कमजोर हो जाता है कि रात-दिन अशांत और परेशान रहते हैं और किसी भी तरह जीवन का अंत करने की सोचते रहते हैं और कोई-कोई तो पागल हो जाते हैं। यह बुद्धि की पराकाष्ठा है। उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि केवल बुद्धि की पराकाष्ठा व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य के लिए नकारात्मक परिस्थितियां पैदा करती हैं। जितना ध्यान चेतन मन के विकास के लिए दिया जा रहा है अर्थात् बौद्धिक विकास के लिए दिया जा रहा है, उतना ही ध्यान अचेतन मन के विकास हेतु दिया जाए तो एक संतुलन की स्थिति पैदा हो सकती है। अत: वर्तमान शिक्षा प्रणाली अपने इस दोष से मुक्त नहीं हो पाई है।

1.8 नाड़ी-ग्रंथितंत्र के प्रशिक्षण का अभाव

व्यवहार नियंत्रण तथा परिष्कार हेतु नाड़ी-ग्रंथितंत्र का संतुलन आवश्यक होता है। नाड़ी तंत्र में जहां अनुकंपी तंत्र की सक्रियता व्यक्ति के व्यवहार में उत्तेजना लाता है वहीं परानुकंपी तंत्र निष्क्रियता लाता है। संतुलित व्यवहार के लिए दोनों तंत्रों का संतुलन आवश्यक होता है। दूसरी ओर ग्रंथियों के स्राव भी व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। इन ग्रंथियों से निकलने वाला स्राव 'हार्मोन' कहलाता है। शरीरशास्त्रियों ने शरीर में मुख्यतया पीनियल, पिट्यूटरी, थाइराइड, पैराथाइराइड, थाइमस, एड्रीनल, गोनाड्स आदि ग्रंथियों का उल्लेख किया है। इनके स्राव व्यक्ति के व्यवहार को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। इनका स्राव असंतुलित होने से व्यवहार भी असंतुलित हो जाता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि मानसिक और भावनात्मक असंतुलन के कारण उन ग्रंथियों के स्राव असंतुलित हो जाते हैं। इस असंतुलन की स्थिति में स्वस्थ समाज की संरचना नहीं हो सकती। अत: व्यवहार परिष्कार एवं व्यक्तित्व विकास हेतु इन ग्रंथियों पर नियंत्रण रखना आवश्यक हो जाता है। हमारी शिक्षा-व्यवस्था में नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र के संतुलन एवं परिष्कार हेतु कोई उपाय नहीं है।

1.9 स्व एवं आन्तरिक शक्तियों से अपरिचित

योग का सिद्धान्त है कि व्यक्ति के भीतर चेतन तत्त्व है जिसमें अनंत शक्तियां विद्यमान हैं। यदि व्यक्ति उनको जागृत कर

उनका सदुपयोग करना चाहे तो यह क्षमता भी उसमें निहित है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ भी इसी सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। उनका मानना है कि आश्चर्य इस बात का है कि चेतन सत्ता प्राणी की सत्ता या यों कहें कि हमारे जगत् की जो मूल सत्ता है, उसके विकास की हमारी कोई जानकारी नहीं है। अपने स्व के बारे में, ज्ञाता के बारे में कोई जानकारी नहीं है और ज्ञेय के विषय में दुनियाभर की जानकारी है। यह इस सत्य का द्योतक है कि जो मूल व्यक्ति है, वह बेचारा दर-दर का भिखारी बनकर भीख मांग रहा है और उसका चरित्र, उसका प्रतिबिंब हजारों में बिक रहा है। बिंब रो रहा है, प्रतिबिंब हंस रहा है। ऐसा ही कुछ हो रहा है शिक्षा जगत् की परिक्रमा में। वास्तविकता यह है कि जो मूल है उसकी जानकारी सबसे ज्यादा होनी चाहिए पर बेचारा उपेक्षित-सा पड़ा कहीं कोने में बैठा सिसक रहा है और जानने वाला उन सबको जान रहा है जिनको जानने की जरूरत शायद उतनी कभी नहीं रही होगी। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में स्व को जानने तथा आन्तरिक शक्तियों से परिचय कराने का कोई प्रावधान नहीं है। शरीर में एक तत्त्व है—प्राण। प्राण एक ऐसा तत्त्व है जो जीवनदान देता है। इस तत्त्व में अनेक शक्तियां निहित हैं लेकिन दुर्भाग्य से वर्तमान शिक्षा न तो इस शक्ति से परिचित करवाती है और न ही इसके प्रशिक्षण का उपाय ही है। चेतन सत्ता की शक्तियों तथा उससे जुड़ी समस्त प्राण आदि की शक्तियों से विद्यार्थी अपरिचित रहता है। अत: परिचित के अभाव में मूल का भी कोई उपयोग नहीं हो पाता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि विद्यार्थी को उसकी भीतरी शक्ति से परिचित नहीं कराया जाता है। कोई भी विद्यार्थी यह नहीं जानता कि उसके भीतर ऐसी शक्ति भी है जो ऐसे समय में काम दे सकती है कि जहां शरीर की शक्ति भी व्यर्थ हो जाती है। उनके अनुसार वर्तमान में विद्यार्थी को न तो अपनी प्राणशक्ति पर भरोसा ही है और न ही जानकारी क्योंकि आज की शिक्षा पद्धति में प्राण की शक्ति का कोई प्रशिक्षण नहीं है।

1.10 अध्यात्म-योग शिक्षा की उपेक्षा

अध्यात्म-योग जो भारतीय संस्कृति का प्राणतत्त्व है, के प्रति वर्तमान शिक्षा प्रणाली में घोर उपेक्षा का भाव दृष्टिगोचर होता है। यही शिक्षा जिसने पूर्ण व्यक्तित्व विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की जिसने व्यक्ति को हमेशा ही सद्मार्ग दिखाया, आज वह व्यक्ति से कोशों दूर है। वर्तमान में अधिकांशत: व्यक्ति भौतिकवादी दृष्टिकोण को ही अपना रहे हैं। भौतिकवादी दृष्टिकोण व्यक्ति का एकांगी विकास ही करता है। इसमें भीतर का पक्ष उपेक्षित रह जाता है। आज जो शिक्षा प्रणाली हमारे देश में प्रचलित है, वह व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति की ओर लेशमात्र भी ध्यान न देकर उसके भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दे रही है। परिणामत: व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास रुक गया है और उसके अंदर की दिव्य ज्योति बुझ गई है। इस अध्यात्म योग की शिक्षा को हमारे महापुरुषों ने बहुत ही महत्त्व दिया है। **भारतीय संस्कृति के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को मानव बनाना है, पूर्ण मानव बनाना है। इसी का परिणाम होगी पूर्ण मानवता। पूर्ण मानवता का अर्थ है मानव में आधिभौतिक और आध्यात्मिकवाद का पूर्ण समन्वय, सामंजस्य और संतुलन। आध्यात्मिकता के अभाव या असंतुलन से मानव दानव हो जाता है। उससे सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है।** स्वामी दयानंद सरस्वती जी ने घोषित किया कि यदि देश को पतनोन्मुख होने से बचाना है तो भारतीय शिक्षा को पुन: प्राचीन संस्कृति एवं आदर्शों पर आधारित करना पड़ेगा।

शरीर विज्ञान के अनुसार मस्तिष्क के दो भाग होते हैं—दायां और बायां। 'बायां भाग तर्क, भाषा, गणित, भौतिक ज्ञान आदि के लिए उत्तरदायी होता है और दायां भाग आध्यात्मिक जागृति, अंत:प्रज्ञा, स्वप्न और कल्पना आदि के लिए उत्तरदायी है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में मस्तिष्क के बाएं भाग को ही अधिक प्रशिक्षित किया जा रहा है जिससे दायां पक्ष स्वत: ही उपेक्षित रह जाता है अथवा कम विकसित हो पाता है। इसके कारण आध्यात्मिक जागृति और अंत:प्रज्ञा के पक्ष भी उपेक्षित रह जाते हैं। अत: शिक्षा में मस्तिष्क के दाएँ पटल को प्रशिक्षित करने का प्रावधान नहीं है।

1.11 मानसिक प्रशिक्षण का अभाव

आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि शिक्षा की परिधि में सब विषय आ गए पर मन को शिक्षित करने का कोई उपक्रम नहीं आया। सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है मन को प्रशिक्षित करना। आज की शिक्षा में सबसे बड़ी कमी यही है कि उसमें इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। हमारी चालू शिक्षा में शरीर के लिए, रोजी-रोटी के लिए विचार की व्यवस्था है। पदार्थ जगत् पर भी विचार व व्यवस्था की गई है। शरीर के साथ जुड़ा हुआ है मन। मन के साथ काफी उपेक्षा बरती गई है। मानसिक विकास होना एक बात है और मानसिक समस्याओं का समाधान कर पाना दूसरी बात है। मानसिक विकास होता है तो स्मृति बढ़ती है, चिंतन और कल्पना की

शक्ति बढ़ती है। स्मृति की तीव्रता, चिंतन की दक्षता और कल्पना की पटुता आ गई तो मानसिक विकास हो गया। उसका दूसरा पहलू भी है। जितना मानसिक विकास होता है उतनी उलझनें बढ़ती हैं। स्मृति भी कम मानसिक समस्या नहीं है। जहां स्मृति मानसिक विकास है वहां स्मृति बहुत सारी समस्याओं का एक बहुत बड़ा कारण भी है। चिंतन भी विकास का मापदंड है किन्तु चिंतन भी समस्याएं पैदा करने वाला होता है। अति चिंतन समस्याएं पैदा करता है। इसी प्रकार कल्पना जहां मानसिक विकास है, वहीं पर बहुत बड़े संकटों का कारण भी है। कल्पना के द्वारा समस्याएँ बहुत उलझती हैं और व्यक्ति यथार्थ तक नहीं पहुंच पाता है। काल्पनिक समस्याएं जटिल भी होती हैं। हमारी समस्याएँ जब जटिल बन जाती हैं तब सुलझाने का रास्ता भी जटिल बन जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि केवल मानसिक विकास होना ही पर्याप्त नहीं वरन् मानसिक प्रशिक्षण भी आवश्यक है। मानसिक प्रशिक्षण के अभाव में ही व्यक्ति कोरी प्रवृत्ति करता है, निवृत्ति नहीं। केवल कोरी प्रवृत्ति अभिशाप बन जाती है। मानसिक प्रशिक्षण के द्वारा सक्रियता और निष्क्रियता में, चिंतन और अचिंतन में, विचार और निर्विचार में, विकल्प और निर्विकल्प में, स्मृति और विस्मृति में, भाषा और अभाषा में संतुलन स्थापित कर सकता है। यही स्वस्थ जीवन का लक्षण है। इस सन्दर्भ में वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर ज्ञात होता है कि हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली में मानसिक प्रशिक्षण का पक्ष उपेक्षित रहा है।

1.12 अन्य

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में उपरोक्त समस्याओं के अतिरिक्त एक नहीं अनेक समस्याएँ विद्यमान हैं जिनका विवरण संक्षेप में इस प्रकार है—

1. साक्षरता के प्रमाण-पत्रों एवं अन्य डिग्रियों में वृद्धि फलत: शिक्षित बेरोजगारी में वृद्धि।
2. स्वस्थ प्रतियोगिता के स्थान पर अवसरवादिता पर जोर।
3. शिक्षा का अभिजातवर्गीय होना।
4. राष्ट्रीय आदर्शों की पूर्ति कर पाने में असमर्थ।
5. बस्ते का बोझ एवं गृहकार्य की अधिकता।
6. शिक्षा के एक निश्चित मापदंड तथा राष्ट्रीय विचार धारा का अभाव।
7. शिक्षा की नीतियों का निर्धारण शिक्षाविदों द्वारा कम तथा लोक सेवकों द्वारा अधिक होना।
8. शिक्षा का राजनीति से प्रेरित रहना।
9. आयोगों की संस्तुतियों को आवश्यकतानुसार नहीं सुविधानुसार स्वीकार करना अथवा लागू करना।
10. वैयक्तिक तथा सामाजिक समस्याओं के निराकरण हेतु उचित शिक्षा का अभाव।
11. शिक्षा पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित।
12. एक संतुलित तथा व्यवस्थित शिक्षा पद्धति का अभाव।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली की उपरोक्त समस्याओं को ज्ञात करने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में शिक्षा प्रणाली में आवश्यक एवं अपरिहार्य तत्त्वों को जोड़ने की आवश्यकता है। डॉ. सत्यपाल रुहेला जी का यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि हमारे देश की शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में विविध निर्धारकों ने वैसी भूमिका नहीं निभाई है जैसी कि उनसे समाज को आशा थी। इसका यह परिणाम हुआ कि हमारी शिक्षा प्रणाली अनगिनत लंबे-चौड़े व्याख्यानों, शिक्षा आयोगों के प्रतिवेदनों तथा प्रभावशाली वाक्युद्धों के होने पर भी मूलत: परंपरावादी तथा सामाजिक रूप से बहुत कम संवेदनशील है। शिक्षा प्रणाली में ''पूर्व निर्मित गतिरोध'' ही इसमें कोई नया परिवर्तन नहीं आने देता। इसलिए यह एक नित नई, नित हरी, निरंतर विकासशील तथा जीवन स्पंदन से परिपूर्ण होने वाली सार्थक सामाजिक क्रिया नहीं बन पा रही है।

बोध प्रश्न

---

1. शिक्षा-जगत् की प्रमुख समस्या क्या है?
2. संतुलित शिक्षा प्रणाली क्या है?
3. शिक्षा का मूल अर्थ क्या है?
4. मन के कितने स्तर हैं?
5. शरीर-विज्ञान के अनुसार मस्तिष्क के कितने भाग हैं?

2.0 जीवन विज्ञान की अनिवार्यता

जीवन विज्ञान जीवन जीने का विज्ञान है। अत: इसमें वे सभी तथ्य समाहित हो जाते हैं जो अच्छा जीवन जीने के लिए आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी हैं। वर्तमान शिक्षा की समस्याओं के सन्दर्भ में विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि वास्तव में जीवन विज्ञान शिक्षा अनिवार्य है। यह शिक्षा जगत् की एक नहीं वरन् अनेक समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है। शिक्षा व्यवस्था में सुधार होने से जीवन विकास का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है। अत: जीवन विज्ञान की अनिवार्यता को निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

2.1 संतुलित शिक्षा प्रणाली—जीवन विज्ञान संतुलित शिक्षा प्रणाली है। इसमें व्यक्तित्व विकास के चारों आयाम—शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं भावात्मक चारों ही आयाम जुड़े हुए हैं। शरीर का विकास आवश्यक है तो मन का विकास भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसी प्रकार बौद्धिक विकास आवश्यक है तो भावात्मक विकास भी आवश्यक है। कहने का तात्पर्य है कि व्यक्तित्व के विकास के लिए शारीरिक स्वस्थता, मानसिक एकाग्रता, बौद्धिक विकास एवं भावात्मक संतुलन अपेक्षित है। शरीर स्वस्थ है तो मन पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। अत: शरीर की स्वस्थता मन को एकाग्र करने में सहायक होती है। मानसिक एकाग्रता जीवन विकास के लिए आवश्यक है। एकाग्रता के बिना व्यक्ति सफल भी नहीं हो सकता है। बौद्धिक विकास विद्यार्थी को सही और गलत में अन्तर करना सिखाता है, संश्लेषण-विश्लेषण करना सिखाता है, अच्छे-बुरे का ज्ञान कराता है। अत: यह भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। बौद्धिक विकास से व्यक्ति के ज्ञान का विकास होता है तो उस ज्ञान का सही उपयोग करने के लिए भावात्मक संतुलन की आवश्यकता है। केवल कोरा ज्ञान अनर्थ भी कर सकता है। इसलिए भावात्मक विकास के द्वारा ज्ञान कोरा नहीं रह जाता है। वह नियंत्रित हो जाता है, परिष्कृत हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये चारों आयाम एक-दूसरे से जुड़े हैं। जीवन विज्ञान की शिक्षा में इन चारों आयामों को महत्त्व दिया गया है। अत: संतुलित व्यक्तित्व विकास के लिए संतुलित पद्धति है जीवन विज्ञान।

2.2 आध्यात्मिक शिक्षा प्रणाली—जीवन विज्ञान आध्यात्मिक शिक्षा प्रणाली है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं अध्यात्म का अर्थ है—राग-द्वेष मुक्त चेतना। राग-द्वेष का कारण है प्रियता और अप्रियता। व्यक्ति का सारा जीवन इस प्रियता-अप्रियता, राग-द्वेष—इन दो धाराओं पर ही चलता है। व्यक्ति कभी किसी घटना को प्रियता से देखता है तो कभी अप्रियता से। अत: जहां ये दो बातें हैं वहां व्यक्ति पक्षपात न करे, ऐसा संभव नहीं है। **जिस व्यक्ति में राग-द्वेष की चेतना है वह व्यक्ति पक्षपात रहित नहीं हो सकता है।** मात्राभेद अवश्य हो सकता है। अर्थात् किसी में पक्षपात की मात्रा अधिक हो सकती है तो किसी में कम लेकिन होती सभी में है। कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति का सारा व्यवहार झुकाव के आधार पर चलता है। ऐसी स्थिति में अध्यात्म की बात नहीं हो सकती है। अध्यात्म के विकास के लिए आवश्यक है—ध्यान एवं योग। इससे व्यक्ति में राग-द्वेष की चेतना कम होती है। वह समता का जीवन जीता है। इससे व्यक्ति अनेक समस्याओं से बच जाता है। जहां शुद्ध चेतना होती है वहां सदैव शांति एवं आनन्द का प्रवाह बहता ही रहता है। जीवन के सभी क्रियाकलाप सुख-शांति के लिए ही होते हैं। अत: अध्यात्म व्यक्ति को वास्तविक सुख-शांति प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि जीवन-विज्ञान की अनिवार्यता शिक्षा जगत् में अवश्य ही है।

2.3 आत्मानुशासन की शिक्षा

आत्मानुशासन का अर्थ है—स्वयं पर अनुशासन, स्वयं पर नियंत्रण। यह विद्यार्थी जीवन का आभूषण है। शिक्षा का उद्देश्य है कि आत्मानुशासन पैदा करना। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लगता है कि शिक्षा अपने इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पा रही है तभी तो शिक्षा संस्थान असुरक्षित है क्योंकि वहां आत्मानुशासन नही है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि **आत्मानुशासन शरीर के अनुशासन से, मन के अनुशासन से और वाणी के अनुशासन से आता है।** शरीर में अनुशासन की व्यवस्था है। हमारे शरीर के प्रत्येक तंत्र एक-दूसरे के साथ मिलकर कार्य करते हैं। वे व्यवस्थित रहते हैं, इसलिए शारीरिक क्रिया सही रहती है। यदि ऐसा न होता है तो शरीर में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अत: शरीर क्रिया व्यवस्थित होती है तो मन पर भी अनुशासन होता है। कहा भी जाता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। शरीर और मन एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। एक का असंतुलन दूसरे को भी प्रभावित कर देता है। अत: एक की स्वस्थता के लिए दूसरे की स्वस्थता आवश्यक है। मन की सक्रियता, मन की चंचलता भाषा को भी पैदा करती है। चाहे वह भाषा व्यक्त हो अथवा अव्यक्त। अत: मन पर नियंत्रण से, मानसिक अनुशासन से भाषा पर भी नियंत्रण किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि शरीर, मन और भाषा के अनुशासन से परानुशासन को कम किया जा सकता है। अर्थात् दूसरे द्वारा होने वाले नियंत्रण को कम किया जा सकता है। व्यक्ति का स्वयं पर नियंत्रण नहीं होता है तो वह

दूसरों द्वारा संचालित होता है। **जिस व्यक्ति का आत्मानुशासन पुष्ट है, उसे बाहरी नियंत्रण की आवश्यकता नहीं होती है।** आत्मानुशासन की शिक्षा के लिए अध्यात्म शिक्षा को महत्त्व दिया जाने लगा है क्योंकि यह व्यक्ति के लिए ही नहीं वरन् सर्वहित के लिए उपयोगी है। जीवन-विज्ञान की शिक्षा आत्मानुशासन की शिक्षा है क्योंकि आसन, प्राणायाम, मुद्रा, ध्यान आदि प्रयोग इसमें प्रमुख स्थान रखते हैं जो व्यक्ति का आन्तरिक परिवर्तन करते हैं।

2.4 नि:शस्त्रीकरण की शिक्षा—शस्त्र का अर्थ होता है मार डालने वाला, क्षति पहुंचाने वाला, हानि पहुंचाने वाला। अत: शस्त्र वास्तव में व्यक्तित्व विकास में बाधक बनता है। समाज में सदैव नि:शस्त्रीकरण की अपेक्षा रहती है। जहां-जहां भी शस्त्रीकरण होता है वहां-वहां समस्याएं बढ़ती हैं, भय बढ़ता है। इस विश्व में शस्त्रों का ही भय मुख्य भय है। इसीलिए नि:शस्त्रीकरण की बात को भी महत्त्व दिया जाता है। शस्त्र दो प्रकार के हैं—पदार्थ शस्त्र और भाव शस्त्र। पदार्थ शस्त्र में बन्दूक, तलवार, तोप, प्रक्षेपास्त्र आदि हैं तो भाव शस्त्र के अन्तर्गत व्यक्ति की निषेधात्मक विचारधारा है। पदार्थ शस्त्र का उपयोग तभी होता है जब भावशस्त्र सही नहीं हो। जब अन्तरवृत्तियां अशुद्ध हों। यदि भाव अशुद्ध हों तो शरीर, मन, वाणी भी अशुद्ध हो जाते हैं। जितनी लड़ाइयां पदार्थ शस्त्रों से नहीं लड़ी जाती हैं उतनी लड़ाइयां शरीर, मन, वाणी से लड़ी जाती हैं। अत: राग और द्वेष युक्त चेतना सबसे बड़ा शस्त्र है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल में जितने भी महायुद्ध हुए हैं, वे बहुत छोटी बातों को लेकर हुए हैं। अत: इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति की भावधारा की अशुद्धि ही समस्या का कारण है। आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं कि सारे शस्त्रों का मूल केन्द्रीय स्थान है—भाव। हमारा भाव संस्थान मन एवं विचारों को प्रभावित करता है, हमारी धारणाओं और मान्यताओं को प्रभावित करता है। भाव में जितनी ताकत होती है उतनी ताकत शायद अणुबम में भी नहीं होती है। एक बुरा भाव यदि अपनी सीमा को पार कर जाए तो वह न जाने कितने लोगों का अनिष्ट कर दे। अत: भाव बहुत बड़ा शस्त्र है। दुनिया में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो शस्त्र न बन सके किन्तु वे पदार्थ तब शस्त्र बनते जब तक भीतर के भाव शस्त्र सक्रिय नहीं होते हैं अर्थात् भाव शस्त्र, सक्रिय नहीं होते हैं तो पदार्थ शस्त्र भी निष्क्रिय ही रहते हैं। अत: जीवन विज्ञान नि:शस्त्रीकरण की शिक्षा है जो भावशस्त्रों को निष्क्रिय कर पदार्थ शस्त्रों को निष्क्रिय करती है।

2.5 प्राणशक्ति के विकास की शिक्षा—प्राण जीवन की अमूल्य निधि है। प्राण के अभाव में जीवन का अस्तित्व ही संभव नहीं है। प्राण सूक्ष्म है, अदृश्य है, अमूर्त्त है पर क्रियाप्रणाली के द्वारा इसकी उपस्थिति को जाना जाता है। **प्राण ही जीवन का आधार है। यह प्राणशक्ति जितनी मजबूत होती है, व्यक्ति उतना ही शरीर और मन से भी स्वस्थ होता है। प्राण की अस्वस्थता जीवन को अस्वस्थ बनाती है। इससे मनोबल प्रभावित होता है।** जब मनोबल ही कमजोर रहता है तो व्यक्ति का उत्साह भी कम हो जाता है। कहने का तात्पर्य है कि प्राणशक्ति का मजबूत होना आवश्यक है। ऐसा माना जाता है कि हमारे भीतर शक्ति है लेकिन वह सुप्तावस्था में होती है और व्यक्ति उसका उपयोग नहीं कर पाता है। यदि उस शक्ति का जागरण किया जाए तो व्यक्ति असंभव को भी संभव कर सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि शक्ति के जागरण का साधन है—अनुभव। अनुभव जाग जाता है तो शक्ति जाग जाती है। अध्यात्म के आचार्यों ने सबसे महत्त्वपूर्ण बात कही, वह है—प्राणशक्ति का विकास। प्राणशक्ति का विकास होता है तो इच्छाशक्ति, संकल्पशक्ति और एकाग्रता की शक्ति—सारी शक्तियां जाग जाती हैं। प्राणशक्ति के विकास के लिए प्राणकेन्द्र पर ध्यान करना उपयोगी माना गया है। इस केन्द्र पर दीर्घकाल तक प्रयोग किया जाए तो प्राणशक्ति का विकास हो जाता है। प्राणशक्ति के विकास के बिना अगला विकास संभव नहीं होता है। इसके विकास के लिए श्वासप्रेक्षा-कायोत्सर्ग की मुद्रा में पूरे शरीर में संकल्प के साथ श्वास लेने का अनुभव भी महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। अत: जीवन विज्ञान की शिक्षा प्राणशक्ति के विकास पर बल देती है। इसलिए यह शिक्षा जगत् की अनिवार्यता है।

2.6 मस्तिष्कीय संतुलन की शिक्षा—जीवन विज्ञान मस्तिष्कीय संतुलन की शिक्षा है। विज्ञान के अनुसार मस्तिष्क के दो पटल हैं—दायां और बायां। दायां पटल अध्यात्म, अन्तर्दृष्टि के लिए जिम्मेदार है तो बायां भाग तर्क, भाषा, गणित आदि के लिए जिम्मेदार है। वर्तमान शिक्षा बाएं पटल को प्रशिक्षित करने की शिक्षा है। अत: दायां पटल निष्क्रिय ही रह जाता है। एक भाग की सक्रियता और दूसरे भाग की निष्क्रियता जीवन व्यवहार में असंतुलन का कारण बनती है। इस समस्या के समाधान हेतु जीवन विज्ञान की शिक्षा प्रयासरत है। इस शिक्षा प्रणाली में मस्तिष्क के दोनों पटलों को सक्रिय करने का प्रशिक्षण है। साथ ही मस्तिष्क के उन मूल केन्द्रों को भी प्रशिक्षित किया जाता है जो संस्कार निर्माण के लिए जिम्मेदार हैं। सामान्यत: वे केन्द्र सुप्त रहते हैं। इन केन्द्रों के जागरण से संस्कार निर्माण की प्रक्रिया सरल हो जाती है।

2.7 अचेतन के प्रशिक्षण की शिक्षा—मनोविज्ञान के अनुसार अचेतन ही व्यक्ति के व्यवहार के लिए जिम्मेदार है। यदि अचेतन में अच्छे संस्कार हैं तो व्यवहार भी अच्छा होगा और अचेतन में बुरे संस्कार हैं तो व्यवहार भी बुरा ही होता है। अत: अचेतन के प्रशिक्षण से व्यवहार को बदला जा सकता है। संस्कारों को परिवर्तित किया जा सकता है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में ऐसे प्रयोग हुए हैं जो कि व्यक्ति की मानसिक समस्याओं का समाधान इसी अचेतन के प्रशिक्षण के द्वारा हुआ है। जीवन विज्ञान अचेतन के प्रशिक्षण की प्रक्रिया है क्योंकि इसमें मुख्यतया अनुप्रेक्षाओं के द्वारा स्वत: सुझाव के द्वारा अपनी बात को अचेतन में प्रविष्ट कराया जा सकता है, मूल्यों को रोपा जा सकता है। अभ्यास से यह बात घटित होने लगती है और व्यक्ति का व्यवहार परिवर्तन होने लगता है। यह एक वैज्ञानिक पद्धति है।

2.8 नाड़ी ग्रंथि तंत्रीय संतुलन की शिक्षा—जीवन विज्ञान नाड़ी ग्रंथि तंत्र के संतुलन की शिक्षा है। नाड़ी तंत्र का असंतुलन व्यक्तित्व को भी असंतुलित कर देता है। मुख्यतया अनुकंपी और परानुकंपी तंत्र की सक्रियता से व्यवहार प्रभावित होता है। कभी व्यवहार में उत्तेजना पाई जाती है तो कभी उदासी पाई जाती है। ऐसा व्यवहार व्यक्तित्व को विघटित कर देता है। साथ ही ग्रंथितंत्र के स्राव भी व्यक्तित्व विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इन स्रावों में असंतुलन हो जाता है, व्यवहार भी असंतुलित हो जाता है। अत: व्यवहार के संतुलन के लिए नाड़ी ग्रंथि तंत्र का संतुलन आवश्यक है। जीवन विज्ञान की शिक्षा में अनेक प्रयोग हैं जो इस संतुलन को कायम रखते हैं। अन्तर्यात्रा, दीर्घश्वास प्रेक्षा, समवृत्ति श्वास प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा एवं लेश्याध्यान इस संतुलन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं।

2.9 परिवर्तन की शिक्षा—जीवन विज्ञान परिवर्तन की प्रक्रिया है, बदलने की प्रक्रिया है। बदलने के लिए एक नहीं अपितु अनेक कोण हमारे समक्ष हैं। चरित्र को बदलना है, व्यवहार को बदलना है, निषेधात्मक दृष्टिकोण को बदलना है। **बदलना उसे है जो हमारी समस्या का कारण बनता है, दु:ख का कारण बनता है।** प्रत्येक व्यक्ति के लिए कारण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। व्यक्ति उन कारणों से परिचित भी होता है। कई बार ऐसा भी होता है कि व्यक्ति अपनी समस्या का कारण वास्तव में जानता ही नहीं है। अपितु दोनों ही परिस्थितियों में जीवन विज्ञान के प्रयोग व्यक्ति को समाधान दे सकते हैं। अत: जीवन विज्ञान की शिक्षा व्यक्ति के व्यवहार को सकारात्मक रूप से परिवर्तित करती है। यह परिवर्तन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करने में सहायक होता है।

2.10 स्वस्थ समाज संरचना की शिक्षा

जीवन विज्ञान स्वस्थ समाज संरचना की शिक्षा पद्धति है। जीवन विज्ञान की पृष्ठभूमि में व्यक्ति और समाज दोनों को समान मूल्य दिया गया है। समाज से कटा हुआ व्यक्ति रामू भेड़िया बन सकता है। दार्शनिक और वैज्ञानिक नहीं बन सकता है। **वैयक्तिक और सामाजिक अस्मिताओं का योग होने पर पूर्ण व्यक्तित्व विकसित होता है।** यह तब संभव है जब समाज का वातावरण स्वस्थ हो। तभी व्यक्ति अपने गुणों का, क्षमताओं का विकास कर सकता है। व्यक्ति समाज की एक इकाई है। अत: व्यक्ति का प्रभाव समाज में और समाज का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। अत: स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण है। **स्वस्थ सामाजिक जीवन जीने के लिए समाज में मूल्यों का होना नितान्त आवश्यक है जिसमें अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, कर्त्तव्यनिष्ठा, स्वावलम्बन, मैत्री आदि महत्त्वपूर्ण हैं।**

वास्तव में वही समाज स्वस्थ है जिसमें मूल्य हैं। व्यक्तित्व विकास की संभावनाएँ समाज में ही होती हैं, केवल अकेलेपन में नहीं। इसीलिए समाज संबंधों का जाल है जहाँ व्यक्ति किसी-न-किसी स्वार्थ से, किसी-न-किसी अनिवार्यता से, हित से समाज से जुड़ा हुआ है। इसलिए समाज-व्यवस्था जितनी अधिक सुदृढ़ होगी, व्यक्ति व समाज का हित उतना ही अधिक होगा। जीवन विज्ञान की शिक्षा में स्वस्थ समाज को विशेष महत्त्व दिया गया है और इसके लिए विशेष मूल्यों को स्थान दिया गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जीवन विज्ञान की शिक्षा बहुआयामी शिक्षा पद्धति है। इसमें एक पक्ष का ही नहीं वरन् अनेक पक्षों का अध्ययन किया जाता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति का व्यवहार भिन्न-भिन्न तरह का होता है। यदि व्यक्ति शरीर, मन और भावों से स्वस्थ है तो उसका आचार-व्यवहार सदैव ही सकारात्मक रहेगा। यही व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में सफलता के लिए आवश्यक है। इससे व्यक्ति अनेक समस्याओं का समाधान स्वयं खोज पाता है। जीवन में प्रसन्नता एवं शांति को प्राप्त कर सकता है और दूसरों को दे सकता है।

बोध प्रश्न

1. जीवन जीने का विज्ञान क्या है?
2. अध्यात्म का क्या अर्थ है?
3. जीवन की अमूल्य निधि क्या है?
4. व्यक्ति के व्यवहार के लिए कौन जिम्मेदार है?
5. स्वस्थ समाज क्या है?

3.0 जीवन विज्ञान का स्वरूप

जीवन विज्ञान का स्वरूप निम्न बिन्दुओं के द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

3.1 जीवन विज्ञान : योग शिक्षा

योग का सामान्य अर्थ है—जोड़ना। व्यापक अर्थों में योग 'संकुचित व्यक्ति-सत्ता' का 'विस्तृत चेतना' में मिलना है। योग यानि चित्त पर कैसे अंकुश रखना, इन्द्रियों पर कैसे नियन्त्रण रखना, मन पर कैसे काबू पाना, जबान पर कैसे लगाम लगाना—यह योग का सच्चा अर्थ है। जीवन विकास के लिए, ऊँचाई पर चढ़ने के लिए प्रामाणिकता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रिय अनुशासन, मानसिक संतुलन, वाणी संयम, आत्मानुशासन, सहिष्णुता, धैर्य, आत्मविश्वास, कर्त्तव्यनिष्ठा जैसे गुणों का होना परमावश्यक है। जीवन विज्ञान का प्रायोगिक पक्ष इन सभी मूल्यों के विकास हेतु प्रयासरत है। जीवन विज्ञान रूपी विद्याशाखा में सम्पूर्ण भारतीय योग विद्या का प्रतिनिधित्व हुआ है। यह योग को समग्रता में स्वीकार करता है, किसी अंग विशेष को नहीं। यह केवल समवाय ही नहीं बल्कि भारतीय योग विद्या का आधुनिकतम संस्करण है। इसमें योग विद्या के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक अभ्यास का समावेश है। इसके सैद्धान्तिक ज्ञान में प्राचीन ज्ञान का आधुनिक विज्ञान के साथ प्रस्तुतीकरण है एवं तुलनात्मक अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है। इतना ही नहीं जीवन विज्ञान में प्राचीन योग विद्या का प्रतिनिधित्व करने के साथ आधुनिक विद्याओं को भी सम्यक्तया ग्रहण किया गया है। प्रायोगिक अभ्यास में बालक की क्षमतानुसार अल्पकालिक व दीर्घकालिक अभ्यासों को प्रस्तुत किया गया है।

जीवन विज्ञान शिक्षा प्रणाली में इस बात को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है कि सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ प्रायोगिक स्तर पर शिक्षा दी जाए। जीवन विज्ञान ज्ञान-पक्ष के साथ आचार-पक्ष को जोड़ता है। कथनी और करनी की दूरी को कम करने का कार्य करता है। जीवन विज्ञान में जीवन के उन सभी पक्षों के प्रशिक्षण पर बल दिया है जो व्यक्तित्व को स्पर्श करते हैं। शारीरिक विकास, बौद्धिक विकास, मानसिक विकास और भावनात्मक विकास। जब तक चारों पक्षों पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाएगा तब तक संतुलित व्यक्तित्व की परिकल्पना करना सही नहीं होगा। जीवन विज्ञान में शारीरिक स्वास्थ्य, बौद्धिक विकास, मानसिक एकाग्रता तथा भावनात्मक संतुलन पर बल दिया गया है। इनको प्रशिक्षित करने के लिए प्राचीन योग विद्या को जोड़ा गया है।

योग विद्या में सर्व प्रथम नैतिकता की बात आती है। जब नैतिकता की बात आती है, मूल्यों की बात आती है, सद्गुणों की बात आती है तो इसके लिए यह भी आवश्यक हो जाता है कि इनका विकास कैसे किया जाए। क्या व्यक्ति में ये गुण जन्मजात होते हैं या अर्जित होते हैं? क्या इनका विकास संभव है, यदि संभव है तो कैसे—आदि अनेक प्रश्न हो सकते हैं। जिवन विज्ञान में इन प्रश्नों के उत्तर भी खोजे गए हैं। व्यक्ति में ये गुण जन्मजात तथा अर्जित दोनों ही हो सकते हैं। मानव की प्रकृति ऐसी है कि वह निरंतर कुछ-न-कुछ सीखता रहता है। पुरानी आदतें बदलती हैं, नई जन्म लेती हैं। विज्ञान, मनोविज्ञान दोनों इस बात से सहमत हैं कि व्यक्ति का व्यवहार परिवर्तनशील है। अत: वह चाहे तो अपने व्यवहार को जैसा बनाना चाहे बना सकता है। साथ ही शिक्षा प्रणाली में भी ऐसे तत्त्व समाहित होने चाहिए जो विद्यार्थियों में इस प्रकार की चेतना को जागृत करें। केवल उपदेश देना ही एकमात्र समाधान नहीं है। उपदेश तो वर्षों से चल रहे हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उपदेश गलत हैं। इनका भी प्रभाव पड़ता है, साथ ही यदि ऐसी व्यवस्था हो, ऐसा उपक्रम हो जो व्यक्ति के भीतर उन गुणों को विकसित करने में, रूपांतरण घटित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं तो बहुत बड़ी उपलब्धि घटित हो सकती है। जीवन विज्ञान विद्या शाखा में ऐसी व्यवस्था की गई है जिससे व्यक्ति में नैतिकता और मूल्यों का विकास हो।

जीवन विज्ञान एक ओर व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों के विकास की ओर बल देता है तो दूसरी ओर उस शक्ति का उपयोग किस दिशा में किया जाए, इसको भी महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। शक्ति जागरण एक बात है तथा उसका उपयोग दूसरी बात है। उसमें भी महत्त्वपूर्ण है—दिशा। जब तक दिशा निर्धारण का विवेक नहीं होगा तब तक शक्ति भी अनिष्टकारी बन जाती है।

इस प्रकार जीवन विज्ञान ज्ञान के साथ विवेक चेतना को भी महत्त्व देता है। जब तक ज्ञान विज्ञान नहीं बनता है वह सूचना मात्र होता है। ज्ञान विज्ञान तब बनता है। जब वह आचरण पर उतरता है। जीवन विज्ञान आचार पक्ष की सुदृढ़ता पर बल देता है। इसके लिए इसमें ज्ञान और आचार पक्ष की खाई को कम करने, कथनी पर और करनी में एक रूपता लाने की बात कही गई है। इसके लिए इसमें ऐसा उपक्रम जोड़ा गया है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के शब्दों में—मैं नहीं समझता कि केवल पुस्तकीय ज्ञान छात्रों के नैतिक विकास में कोई विशेष सहयोग कर सकेगा। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा में जीवन विज्ञान को एक विद्या शाखा के रूप में स्वीकार किया जाए। मैं मानता हूँ कि यदि जीवन विज्ञान को साइंस की तरह सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक स्तर पर चेतना के जागरण के लिए उपयोग किया जाए तो एक क्रांति घटित हो सकती है। उससे संतुलित व्यक्ति निकलेंगे।

जीवन विज्ञान शिक्षा जगत् में एक नई विद्या शाखा है। नई इसलिए है कि मूल्यों के विकास की जो परिकल्पना अन्य विद्या शाखाओं से पूरी नहीं हो रही है वह इस विद्या शाखा से की गई है। इसमें उन तत्त्वों का समावेश है जो हमारे शिक्षाशास्त्री, हमारे महापुरुष चाहते थे और चाहते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार—युग की सबसे बड़ी बीमारी है कोरा वैज्ञानिक होना, आध्यात्मिक न होना। व्यक्ति की इसी मनोवृत्ति ने बहुत सारी बीमारियों को जन्म दिया है। जीवन विज्ञान का मुख्य सूत्र है—आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण। न कोरा वैज्ञानिक न कोरा आध्यात्मिक। यह वर्तमान युग की अपेक्षा है। युगीन समस्याओं का सबसे बड़ा समाधान है। इसके लिए आवश्यक है जीवन शैली को समझना और जीवन शैली को बदलना। इसके लिए आवश्यक है—सुव्यवस्थित वैज्ञानिक उपक्रम। इस विद्या शाखा में जीवन के इन अछूते पहलुओं पर गहनता से विचार किया गया है। जीवन के उन तत्त्वों की चर्चा की गई है जिनसे जीवन बना है, साथ ही उनके प्रशिक्षण के साधन तथा उनका सहज तरीका भी बताया गया है ताकि इन प्रयोगों को प्रत्येक विद्यार्थी अपनी क्षमतानुसार कर सके, अपनी आवश्यकतानुसार कर सके।

3.2 जीवन विज्ञान : समन्वित पद्धति

जीवन विज्ञान की शिक्षा समन्वित शिक्षा पद्धति है। जीवन विज्ञान की शिक्षा में प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्या शाखाओं का समावेश है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के शब्दों में—जीवन विज्ञान समन्वित पद्धति का नाम है। इसमें अहिंसा की शिक्षा, नैतिक शिक्षा और आन्तरिक परिवर्तन की शिक्षा तीनों का समन्वय है। इसे शिक्षा के क्षेत्र में अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान के समन्वय से विकसित किया गया है। जहां हम अहिंसा की, नैतिकता की तथा आन्तरिक परिवर्तन की बात करते हैं तो उसका सिधा सम्बन्ध व्यक्ति और उसके व्यवहार से है। अत: व्यक्ति के व्यवहार को विभिन्न प्रकार से जानना आवश्यक है। इसके लिए जीवन विज्ञान की शिक्षा में शरीर विज्ञान को जितना महत्त्व दिया गया है, उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है मनोविज्ञान को, समाजशास्त्र को, शिक्षाशास्त्र को तथा अन्य विद्याशाखाओं को। जब तक व्यक्ति से जुड़े विभिन्न आयामों का ज्ञान नहीं होगा तब तक सुधार की बात भी संभव नहीं हो सकती है। जब व्यक्ति-सुधार की बात आती है, समाज सुधार की बात आती है तब व्यक्ति तथा समाज से जुड़े सभी पक्षों की जानकारी आवश्यक है। व्यक्ति के व्यवहार के कारकों को जानने के पश्चात् ही बाद की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। शिक्षा के क्षेत्र में इनके विकास हेतु अणुव्रत अर्थात् छोटे-छोटे संकल्पों के द्वारा व्यवहार-परिवर्तन की बात आती है, जिसमें सहयोगी बनता है—प्रेक्षाध्यान का प्रयोगिक पक्ष। प्रायोगिक पक्ष में शरीर के किस भाग पर ध्यान करना है, किसका आलम्बन लेना है, किस केन्द्र की प्रेक्षा करनी है—आदि की आध्यात्मिक प्रक्रिया तथा वैज्ञानिक व्याख्या को प्रस्तुत किया गया है। सिर्फ एक पक्ष को लेकर, एकांगी होकर किसी भी वस्तु अथवा पदार्थ की व्याख्या संभवतया पूर्ण नहीं हो सकती है। इसलिए विभिन्न कोणों से व्याख्या करने पर कोई भी प्रयास सफल हो सकता है। जीवन विज्ञान में इनके अतिरिक्त भी अन्य विद्याशाखाओं को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसलिए जीवन विज्ञान समन्वित शिक्षा पद्धति है। समन्वित होने के कारण ही इसका दर्शन भी समन्वित है। इसका मुख्य कारण इस शिक्षा पद्धति का अनेकांत दर्शन पर आधारित होना है। जीवन विज्ञान एक कोण से व्याख्या न करते हुए अनेक कोणों से व्याख्या करता है।

(क) अहिंसा की शिक्षा

अहिंसा सामाजिक मूल्य है। अहिंसा के बिना न व्यक्ति सुख से रह सकता है और न समाज। अत: अहिंसा की आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता भी है। अहिंसा का पहला सूत्र है—धारणा या भावना का परिवर्तन। दूसरा सूत्र है—प्रेम या मैत्री का विकास। तीसरा सूत्र है—कष्ट सहिष्णुता। चौथा सूत्र है—स्व-नियंत्रण, अपने आप पर नियंत्रण। जिसने अपने आवेगों पर नियंत्रण करना सीख लिया, वह अपने प्रति अहिंसक बन गया, वह दूसरों के लिए भी अहिंसक बन गया। अहिंसा और उसकी आस्था को उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। जब तक **शिक्षा के साथ या धर्म की आराधना के साथ**

ज्ञान और क्रिया दोनों का योग नहीं होता तब तक नहीं लगता कि इस समस्या का समाधान हो जाए। इस योग के बिना न तो धार्मिक अच्छा धार्मिक बन सकता है और न विद्यार्थी अच्छा विद्यार्थी बन सकता है। जीवन विज्ञान का मूल सिद्धान्त है धर्म और विद्या दोनों क्षेत्रों में सिद्धान्त और प्रयोग का योग होना चाहिए।

(ख) नैतिकता की शिक्षा

नैतिकता शब्द अपने आप में बहुत व्यापक अर्थ लिये हुए है। साधारणतया नैतिकता वह गुण है, वह मूल्य है जो व्यक्ति तथा समाज के विकास में, स्वस्थ समाज संरचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं—नैतिकता भी दो प्रकार की होती है—सामाजिक नैतिकता और वैयक्तिक नैतिकता। सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए नियम बनाये जाते हैं, वे सामाजिक नैतिकता के अंतर्गत आते हैं। वैयक्तिक नैतिकता के अंतर्गत व्यक्तिगत संवेगों के नियंत्रण की बात आती है। अर्थात् अपने संवेगों पर नियंत्रण करना ही वैयक्तिक नैतिकता है। शिक्षा के दोनों प्रकार की नैतिकताओं का संबंध होता है। विद्यार्थी समाज में जीता है। उसे सामाजिक प्राणी बनना है। उसको समाज के नियमों को मानना है, राष्ट्र के नियमों का भी पालन करना है क्योंकि वह राष्ट्र में रहता है। यदि शिक्षा के साथ उसकी मानसिकता नहीं बनती है तो वह अच्छा विद्यार्थी नहीं बन सकता है। इसमें भी अधिक जरूरी है संवेगों पर नियंत्रण करना। यह नैतिकता का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। प्रश्न आता है नैतिकता का विकास कैसे संभव है? इसके उत्तर में अनेक बातें देखने को मिलती हैं। जैसे—

1. मरणोपरान्त जीवन में आस्था होती है तो नैतिकता को बल मिलता है। जब आदमी जान लेता है कि मरने के बाद भी जीवन रहता है, किये हुए कर्मों का फल भुगतना होता है तो जीवन में नैतिकता अंकुरित होती है।

2. ईश्वरीय आस्था भी बहुत मूल्यवान है। जिसकी ऐसी आस्था हो कि परम सत्ता या विशुद्ध आत्मा है तो वहां से नैतिकता फलित होती है।

3. जब व्यक्ति का राष्ट्र के प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है तब वह राष्ट्र के प्रतिकूल कोई आचरण नहीं करना चाहता। उस स्थिति में नैतिकता विकसित होती है।

जीवन विज्ञान के क्षेत्र में आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने दूसरे सारे संदर्भों और परिभाषाओं से हटकर नैतिकता के एक नए आधार को जोड़ा है। यह स्पष्ट है कि नैतिकता का एक ही स्रोत या एक ही कारण नहीं माना जा सकता। अलग-अलग कारण हो सकते हैं किन्तु शारीरिक अनुशासन बहुत बड़ा कारण है। विद्यार्थी को नैतिकता का उपाय देना, अभ्यास देना शिक्षा का परम कार्य है। यदि शिक्षा के क्षेत्र में नैतिकता का अधिगम नहीं दिया जाता, बोध नहीं कराया जाता, अभ्यास और उपाय नहीं दिया जाता तो मानना होगा कि नैतिकता और शिक्षा का कोई संबंध नहीं है पर आज उसकी अनिवार्यता महसूस हो रही है कि नैतिकता शिक्षा के साथ अवश्य जुड़े, उसका उपाय और अभ्यास जुड़े। इस प्रक्रिया में सबसे पहला तत्त्व है शरीर बोध और शारीरिक अभ्यास। शारीरिक अनुशासन के बिना मानसिक और भावनात्मक अनुशासन संभव नहीं है। शरीर और मन दोनों जुड़े हुए हैं। शरीर को छोड़कर मन की व्याख्या नहीं की जा सकती और मन को छोड़कर शरीर की व्याख्या नहीं की जा सकती। दोनों में इतना गहरा संबंध है कि एक-दूसरे के बिना एक-दूसरे की गति ही नहीं है।

जीवन विज्ञान के अंतर्गत शारीरिक अनुशासन को नैतिकता का आधार बनाया गया है। यह नैतिकता का बहुत बड़ा आधार बनता है। इस बात को समझने के लिए शरीर को दो तंत्रों पर विशेष ध्यान देना जरूरी है। एक है—नाड़ीतंत्र और दूसरा है—ग्रंथितंत्र। व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित तथा अनियंत्रित रखने में इन दोनों तंत्रों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जब ये तंत्र असंतुलित रहते हैं तो व्यक्ति का व्यवहार भी असंतुलित हो जाता है। ऐसी स्थिति में नैतिकता का स्वप्न साकार नहीं हो सकता है। क्रोध, ईर्ष्या, तनाव, चिड़चिड़ापन, स्वार्थ, निराशा आदि के साथ नैतिकता का कोई संबंध नहीं है। नैतिकता के लिए नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र का संतुलन आवश्यक है। इस हेतु आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने जीवन विज्ञान पाठ्यक्रम के अंतर्गत उन आसन आदि प्रयोगों का चयन एवं समावेश किया है जो संतुलन लाने में सक्षम है।

(ग) आन्तरिक परिवर्तन की शिक्षा

जीवन विज्ञान आंतरिक परिवर्तन की शिक्षा है। आंतरिक परिवर्तन अर्थात् भीतरी परिवर्तन, सोचने में परिवर्तन, देखने में परिवर्तन, भावों में परिवर्तन। जब व्यक्ति का आंतरिक परिवर्तन हो जाता है तो व्यक्ति समस्या नहीं समाधान बन जाता है। इसलिए जीवन विज्ञान आंतरिक परिवर्तन पर बल देता है। व्यक्ति दो वातावरणों में रहता है—बाह्य और आंतरिक। आंतरिक वातावरण

सुदृढ़ होता है तो व्यक्ति बाह्य वातावरण से प्रभावित नहीं होता है। आंतरिक परिवर्तन अथवा परिष्कार होने से बाह्य परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाया जा सकता है। अर्थात् विषम परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति उसमें होती है। वह भीतर और बाहर में संतुलन स्थापित कर सकता है। इसी बात की सबसे बड़ी अपेक्षा होती है कि व्यक्ति अपना संतुलन बनाए रखे।

3.3 जीवन विज्ञान : नियमों की खोज

विज्ञान में नियमों की खोज की जाती है। अनेक शाखाओं के अपने-अपने नियम होते हैं। जीवन विज्ञान शिक्षा के द्वारा जीवन विज्ञान के विभिन्न पक्षों का अध्ययन कर अनेक नियमों की खोज की जाती है। जीवन विज्ञान मुख्यतया जीवन के नियमों की खोज करता है। शिक्षा के मुख्यतया तीन पक्ष हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक। अत: जीवन विज्ञान तीनों पक्षों के परिष्कार, संतुलन तथा शुद्ध चेतना के जागरण करने के नियमों की खोज करता है।

4.0 जीवन विज्ञान : आधार और प्रक्रिया

जीवन विज्ञान एक ऐसा विज्ञान है जो व्यक्ति को प्रशिक्षित कर, उसकी सुप्त चेतना का जागरण कर सुव्यवस्थित जीवन जीने में सहायक होता है। कहने का तात्पर्य है कि जीवन विज्ञान केवल कोरा विज्ञान नहीं है, यह केवल शब्दों की कोरी कल्पना नहीं है, केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं है वरन् व्यावहारिक ज्ञान है, आचारगत एवं व्यवहार ज्ञान है। तभी इस शब्द की सार्थकता भी है। इस सार्थकता के पीछे एक ठोस आधार है। वह आधार है प्रशिक्षण। जीवन विज्ञान सिद्धान्त का मौलिक आधार इसका प्रशिक्षण है। प्रशिक्षण ही इसका हृदय कहा जा सकता है। इसके बिना जीवन विज्ञान केवल कोरा सिद्धान्त होकर रह जाएगा जो अन्य विषयों की तरह होगा। अत: प्रशिक्षण इस विषय का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रशिक्षण किसे देना है—यह जिज्ञासा भी हो सकती है। प्रशिक्षण देना है जीवन को, जीवन से जुड़े समस्त तत्त्वों को। वे हैं—शरीर, श्वास, प्राण, मन, भाव, चेतना और कर्म। इन सात तत्त्वों से जीवन बना है। इनका समग्र प्रशिक्षण जीवन का प्रशिक्षण है। इन सभी तत्त्वों का अपना विशेष महत्त्व है। जो पूरे सहयोग के साथ एक-दूसरे अंगों के लिए या समूची क्रिया प्रणाली के लिए महत्त्वपूर्ण है। जहाँ तक प्रवृत्ति का प्रश्न है वहां कार्य संचालन के लिए एक विशेष तंत्र है। अर्थात् व्यक्ति प्रवृत्ति करता है, क्रिया करता है जिसके लिए जिम्मेदार है—क्रियातंत्र। अत: इस क्रियातंत्र को समझना आवश्यक है।

4.1 क्रियातंत्र—शरीर का संचालन अनेक तंत्रों के द्वारा होता है। जैसे—त्वचा तंत्र, अस्थि तंत्र, रक्त-परिसंचरण तंत्र, नाड़ी तंत्र, आदि। इन तंत्रों का अपना विशेष कार्य है। प्रत्येक तंत्र अपने आप में शक्तिशाली है। अत: इनका अपना-अपना मूल्य है। इसी प्रकार कार्य संचालन के लिए भी एक सशक्त तंत्र विद्यमान हैं इसके अंतर्गत है—शरीर, श्वास, वाणी और मन। ये साधक हैं तो बाधक भी हैं। प्रशिक्षण के अभाव में बाधक हैं और प्रशिक्षण होने पर ये साधक हैं। अत: इस कार्य तंत्र को भिन्न-भिन्न समझना आवश्यक है।

1. शरीर—शरीर स्थूल है, दृश्य है, मूर्त्त है। यह अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। अत: स्थूल को प्रशिक्षित करना आवश्यक है। इसी के भीतर न जाने कितने रहस्य छिपे रहते हैं। इस रहस्यमयी शरीर का एक महत्त्वपूर्ण भाग है—नाड़ीतंत्र जिसके अन्तर्गत मस्तिष्क और सुषुम्ना मुख्य हैं। अत: मस्तिष्क और सुषुम्ना हमारे शरीर के दो ध्रुव हैं। मस्तिष्क चेतना का विकिरण करता है तो सुषुम्ना का अंतिम छोर शक्ति का विकिरण करता है। एक मस्तिष्क चेतना के संग्रह का अमोघ साधन है। जीवन में चेतना और शक्ति—ये दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। इनके केन्द्र हैं—ज्ञान-केन्द्र और शक्ति-केन्द्र। अत: इन दोनों केन्द्रों का संतुलित विकास आवश्यक माना गया है क्योंकि इनके संतुलन से प्रकृति का संचालन भी सहजता से हो सकेगा। जब इनमें असंतुलन होता है तो ज्ञान और क्रिया दोनों ही प्रभावित होती हैं। इससे प्राण का प्रवाह भावबद्ध हो जाता है जिससे शरीर के भीतर अनेक प्रकार की विकृतियां पैदा होने लगती हैं। व्यक्ति के विकृत आचार-व्यवहार, उसकी आदतों के लिए नाड़ी संस्थान ही उत्तरदायी होता है। अत: इस शरीर को साधना, इस नाड़ी संस्थान को साधना आवश्यक समझा जाता है।

2. श्वास—शरीर में प्राण संचार का माध्यम बनता है—श्वास अर्थात् श्वास के द्वारा प्राण की पूर्ति शरीर में हो पाती है। भले ही प्राण शरीर में है लेकिन उसमें पोषण श्वास के द्वारा ही होता है। अत: श्वास बाह्य और अन्तरजगत् दोनों का सेतु है। वह बाहर की यात्रा करता है तो भीतर की यात्रा करता है। वैज्ञानिक दृष्टि से वह ऑक्सीजन भीतर ले जाता है और कार्बन-डाई-ऑक्साइड बाहर छोड़ता है। यह प्रक्रिया भले ही बहुत छोटी प्रतीत होती है लेकिन है बहुत महत्त्वपूर्ण। श्वास चेतना के जागरण में बहुत सहयोगी बनता है। चेतना के सूक्ष्म स्पंदनों को सक्रिय करने में श्वास का बड़ा योगदान रहता है। श्वास जहां

सहयोगी है, वहीं यह बाधक भी बनता है। जब श्वास प्रशिक्षित नहीं होता है तब यह उत्तेजना, अहंकार, वासना, ईर्ष्या और घृणा जैसी समस्याओं को पैदा करता है। श्वास का संबंध भावों से होता है। श्वास के आधार पर व्यक्तित्व की व्याख्या की जा सकती है। जब श्वास छोटा है, असंतुलित है तो वह समस्या ही पैदा करता है और जब श्वास लंबा है, प्रशिक्षित है और संतुलित है तो वह शांति का वातावरण पैदा करता है। अत: श्वास का प्रशिक्षण आवश्यक है।

3. वाणी—वाणी सामाजिकता का मुख्य माध्यम है। वाणी के आधार पर ही समाज है। वाणी अपने विचारों को व्यक्त करने का सशक्त माध्यम है। अपने विचारों का विनिमय व्यक्ति समाज में ही कर सकता है। वाणी के द्वारा ही व्यवस्थित चिंतन होता है और व्यवस्थित चिंतन के माध्यम से समाज बनता है। अत: वाणी का महत्त्व भी कम नहीं है। एक ओर वाणी का जितना महत्त्वपूर्ण योगदान है, वहीं दूसरी ओर यह समस्या का भी बहुत बड़ा कारण बनती है। वाणी अभिव्यक्ति का माध्यम है। यदि विवेक के साथ अभिव्यक्ति न हो तो वाणी भी शत्रु बन जाती है। कहा जाता है कि तलवार का घाव भर जाता है लेकिन वाणी का घाव नहीं भरता है। तलवार का घाव शरीर पर होता है जो भर जाता है लेकिन वाणी का घाव शरीर पर नहीं होता है, मानसिक जगत में होता है, भावजगत् तक होता है। इसलिए यह आसानी से नहीं भर पाता है। यह तभी भर सकता है जब व्यक्ति का दृष्टिकोण परिष्कृत हो।

अत: वाणी को प्रशिक्षित करना आवश्यक हो जाता है। क्या बोलना है, कब बोलना है, कितना बोलना है और कैसे बोलना है—यह महत्त्वपूर्ण बात है। यदि विवेक के साथ वाणी का उपयोग किया जाए तो वाणी सहायक ही बनती है न कि बाधक।

4. मन—मन अमूर्त्त है, अदृश्य है। व्यवहार के आधार पर, क्रिया के आधार पर उसको समझा जा सकता है। मन के तीन महत्त्वपूर्ण कार्य हैं—स्मृति कल्पना और चिन्तन। मन भूतकाल की स्मृति करता है, वर्तमान में चिंतन करता है और भविष्य की कल्पना करता है। अत: मन तीनों कालों में बंटा रहता है। जीवन में स्मृति का भी अपना मूल्य है, चिंतन का भी अपना मूल्य है और कल्पना का भी अपना मूल्य है। स्मृति के अभाव में व्यक्ति के समक्ष अनेक घटनाएँ उपस्थित होती हैं। स्मृति जहां आवश्यक है, उसका अवश्य ही महत्त्व है। जहां स्मृति आवश्यक नहीं है, उसकी विस्मृति ही अच्छी है। इसी प्रकार चिंतन कल्पना के लिए भी यही बात आती है। जितनी आवश्यक है उतनी ही मन की सक्रियता सही है। अनावश्यक मन की सक्रियता समस्या ही पैदा करती है। सार्थक कल्पना आवश्यक है लेकिन निरुद्देश्य कल्पना समस्या है। अत: मन की अतिसक्रियता से शक्ति का अपव्यय होता है। मन को नटखट बंदर की उपमा दी गई है। यह बहुत चंचल है। इसकी समस्या एक चिकित्सक, एक मनोचिकित्सक तथा एक धार्मिक व्यक्ति सभी के लिए बनी हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि एक साधारण व्यक्ति के लिए यह कितना समस्या बना रहता है, इसका अनुमान करना कठिन है। कहने का तात्पर्य है कि अप्रशिक्षित मन सबके लिए समस्या बना रहता है। व्यक्ति मननशील प्राणी है। इसलिए वह मानसिक क्रियाएँ करता है। मन शत्रु ही नहीं है वरन् यह व्यक्ति का मित्र भी है। मित्र तब है जब इसे समझा जाए। इसे समझकर ही सुखी एवं शांतिमय जीवन जीया जा सकता है। जीवन की अनेक समस्याओं में मानसिक समस्याओं का बहुत योग रहता है। यह भी कहा जा सकता है कि मन ही बंधन और मोक्ष का कारण है। अत: मन की शान्ति का स्वत: अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसा भी कहा है कि मन के हारे हार है, मन के जीते जीत। इसलिए मन एक शक्तिशाली तत्त्व है। अत: मन का प्रशिक्षण भी आवश्यक है।

4.2 प्रशिक्षण प्रक्रिया—शरीर, श्वास, वाणी और मन को प्रशिक्षित करने की प्रक्रिया है— प्रेक्षाध्यान। इसके चार तत्त्व हैं—प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, कायोत्सर्ग तथा जागरूकता। इनका विवरण निम्न प्रकार है—

1. प्रेक्षा—प्रेक्षा का अर्थ है—गहराई से देखना, राग-द्वेष रहित देखना। प्रेक्षा है—दर्शन, देखना। वर्तमान में दर्शन का अर्थ ही बदल गया है। दर्शन है—प्रत्यक्षीकरण, साक्षात्कार। अनुमान, तर्क, हेतु आदि जहां नहीं हैं वहां दर्शन है। अर्थात् दर्शन में केवल देखना, प्रत्यक्षीकरण करना, साक्षात्कार करना होता है। इसलिए दर्शन बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। व्यक्ति जब देखता ही नहीं बल्कि जानता है तो इससे चिंतन भी सही नहीं होता है। अत: प्रेक्षा (दर्शन) बहुत बड़ा तत्त्व है। शरीर, श्वास, वाणी और मन को प्रशिक्षित करने के लिए श्वास-दर्शन, शरीर-दर्शन, चैतन्य-केन्द्रों का दर्शन आदि महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं। श्वास को देखना एक साधारण बात लग सकती है लेकिन इसमें बहुत रहस्य भरा है। श्वास हमारे अस्तित्व का प्रकटीकरण है। श्वास केवल कोरा श्वास नहीं है, इसके साथ व्यक्ति के भाव भी जुड़े हुए हैं। श्वास के माध्यम से भाव को जाना जा सकता है। श्वास की गति को समझना बहुत बड़ा विज्ञान है। इससे अतीत और भविष्य को जाना जा सकता है और वर्तमान का मूल्यांकन किया जा सकता है। श्वास दर्शन मन की स्थिरता में बहुत उपयोगी बनता है। मन को प्रशिक्षित करने का माध्यम भी श्वास ही बनता है। भावों

को परिष्कृत करने का भी माध्यम श्वास ही है। श्वास दर्शन का क्षण वीतरागता का क्षण है। यह जितना लम्बा होता है उतनी ही आन्तरिक शुद्धि होती है।

इसी प्रकार शरीर दर्शन भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। शरीर में केवल हड्डी, मांस, रक्त, मज्जा आदि का ही अवलोकन नहीं करना है। शरीर दर्शन में या शरीर प्रेक्षा में शरीर के भीतर होने वाली समस्त क्रियाओं का साक्षात्कार करना है। शरीर के भीतर होने वाली समस्त क्रियाओं का साक्षात्कार करना है। शरीर के भीतर अनेक रसायन हैं, विद्युत हलचलें हैं, कंपन-प्रकंपन हैं। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। अत: ये परिवर्तन हमारे व्यवहार के लिए उत्तरदायी बनते हैं। अत: इन परिवर्तनों की प्रेक्षा करना ही शरीरप्रेक्षा है। शरीर में असीम शक्ति है। उसकी जानकारी व्यक्ति को नहीं है। अत: प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में शरीर की शक्ति को जाना जा सकता है। शक्ति, चेतना और आनन्द की अभिव्यक्ति इसी माध्यम से होती है। शरीर में अनेक केन्द्र हैं जिनको जगाकर अनेक समाधान प्राप्त किये जा सकते हैं। शरीर-प्रेक्षा के द्वारा पूरे शरीर में प्राण की धारा को संतुलित किया जा सकता है। प्राण का संतुलन स्वस्थता की निशानी है। अत: शरीरप्रेक्षा के द्वारा व्यक्ति अनेक रहस्यों का उद्घाटन कर शारीरिक, मानसिक आदि समस्याओं का समाधान हो सकता है। चैतन्य केन्द्रों की प्रेक्षा भी महत्त्वपूर्ण है। चैतन्य केन्द्र वे केन्द्र हैं जहां चेतना सघन रूप में विद्यमान रहती है, साथ ही इन केन्द्रों में कुछ का संबंध अन्त:स्रावी ग्रंथियों से भी है। अत: इन केन्द्रों की प्रेक्षा से चेतना का जागरण तथा ग्रंथियों के स्रावों का संतुलन दोनों ही कार्य किये जा सकते हैं।

2. अनुप्रेक्षा — अनुप्रेक्षा दो शब्दों से मिलकर बना है—अनु+प्रेक्षा। प्रेक्षा में जो सत्य देखा, उसके परिणामों पर विचार करना अनुप्रेक्षा है। दूसरे शब्दों में मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषय का अनुचिंतन अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा जटिल आदतों के परिष्कार का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इसमें भावना है, चिंतन है और यह आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। सच्चाइयों को ज्ञात करने के लिए प्रेक्षा आवश्यक है किन्तु आदतों को बदलने के लिए अनुप्रेक्षा का प्रयोग उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। अनुप्रेक्षा को ''सजेस्टोलोजी'' कहा जा सकता है। अनेक वैज्ञानिक इस पद्धति का प्रयोग करते हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में भी इसका प्रयोग हो रहा है। अनुप्रेक्षा स्वत: सुझाव की पद्धति है। इसके द्वारा जटिलतम आदतों को बदला जा सकता है। आदत चाहे शराब की हो, चाहे तम्बाकू सेवन की हो, चोरी की हो अथवा बुरे आचरण की। इसी प्रकार अनुप्रेक्षा के द्वारा शरीर को स्वस्थ किया जा सकता है। शारीरिक समस्याओं से छुटकारा पाया जा सकता है। यदि व्यक्ति बीमारी का सुझाव स्वयं को दे कि ''मैं बीमार हूँ'', वह बीमार हो जाएगा और एक सुझाव दे कि ''वह स्वस्थ हो रहा है'' तो वह व्यक्ति स्वस्थ हो जायेगा। इसी प्रकार मानसिक समस्याओं का समाधान हो सकता है और भावनात्मक समस्याओं का समाधान हो सकता है।

3. कायोत्सर्ग — कायोत्सर्ग का अर्थ है—काया का उत्सर्ग करना, शरीर की चंचलता को छोड़ना। शारीरिक चंचलता भी बहुत बड़ी समस्या बनती है। अत: कायोत्सर्ग शिथिलीकरण का प्रयोग है। तनावमुक्ति का प्रयोग है। कायोत्सर्ग जागरूकता का प्रयोग है। इसीलिए इसमें चेतना का आभास होता है। अत: यह चैतन्य के प्रति जागरण का प्रयोग है। पैर से सिर तक प्रत्येक अवयव के प्रति जागरूकता, शरीर की प्रकृति को समझ लेना, शरीर की सच्चाइयों को जान लेना और प्राणधारा को जान लेना—यह कायोत्सर्ग की फलश्रुति है। अत: कायोत्सर्ग से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का साक्षात्कार कर सकता है। व्यक्तित्व का साक्षात्कार करने से परिष्कार की बात स्वत: स्पष्ट हो जाती है। जब व्यक्ति अपने प्रति जागरूक है तो समस्या आ भी नहीं सकती है और व्यक्ति परिष्कार भी कर लेता है। माना जाता है कि बीमारियों, जटिल आदतें और चिंतन की विकृतियों के लिए जिम्मेदार है—मानसिक तनाव। तनाव कम होने पर मनोकायिक बीमारियां भी कम होने लगती हैं। अत: कहा जा सकता है कि कायोत्सर्ग का प्रयोग भी अनेक समस्याओं का समाधान है।

4. जागरूकता — व्यक्ति मूर्च्छा में रहता है तो जागरूकता ही नहीं रह पाती। इसीलिए अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। जागरूकता अनेक समस्याओं का समाधान है। उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते हर समय जागरूकता का अभ्यास किया जा सकता है। अध्यात्म में नींद के दो प्रकार बताए हैं—सुप्त निद्रा और जागृत निद्रा। जागृत निद्रा मे व्यक्ति सोते हुए भी ''मैं सोया हूँ'' का भाव बना रहता है। अत: मानसिक चिकित्सा का सबसे बड़ा सूत्र है—जागरूकता। जब व्यक्ति अपने लक्ष्य के प्रति जागरूक हो जाता है तब कोई बाधा उसे बांध नहीं सकती है। इस दुनिया में ऐसे अनेक अवरोधक तत्त्व हैं जो प्रतिपल व्यक्ति के लिए समस्या बनते हैं लेकिन जब व्यक्ति की जागरूकता की शक्ति प्रबल होती है तो कोई कठिनाई नहीं आती है। अत: जागरूकता प्रकाश है। जब भीतर में जागरूकता का प्रकाश फूटता है तब व्यक्ति क्या करना है, क्या नहीं करना है, का बोध प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार परिष्कार का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जागरूकता। जो व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति जाग जाता है उसके जीवन के प्रत्येक

व्यवहार में भी जागरूकता आ जाती है। वे रश्मियां एक दिशा में न फैलकर चारों दिशाओं में फैलती हैं। बोलने में जागरूकता बढ़ेगी तो मुंह से अपशब्द नहीं निकलेगा। सोने में जागरूकता बढ़ेगी तो सपने नहीं लेगा। अत: जीवन का प्रत्येक अंग जागरूकता से ही प्रकाशित होगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, कायोत्सर्ग और जागरूकता जीवन के क्रिया (प्रवृत्ति) तंत्र को प्रशिक्षित करने के अमोघ साधन हैं। इनके द्वारा व्यक्ति अपनी कई समस्याओं का समाधान पा सकता है। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं कि प्रेक्षाध्यान की पद्धति में अनेक उपाय किये जाते हैं। उन अनेक उपायों में भी एक आधारभूत उपाय है—प्रेक्षा। जैसे-जैसे देखने का विकास होता है, अनुभव का विकास होता है, वैसे-वैसे बीमारियां घटती चली जाती हैं किन्तु कठिनाई एक है कि सभी व्यक्ति समान नहीं होते। सबकी क्षमता एकरूप नहीं होती। यदि प्रेक्षा में कठिनाई है तो कायोत्सर्ग की ओर मुड़ें। जो कायोत्सर्ग भी न कर सकें, वे अनुप्रेक्षा का प्रयोग करें। अनुप्रेक्षा में शब्दों का उच्चारण करना है। यह कायोत्सर्ग से भी सरल प्रयोग है। इस प्रकार आचार्यश्री ने सरल से सरल प्रयोग व्यक्ति के सम्मुख रख दिए। इसके अतिरिक्त जागरूकता भी एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है जिसे प्रतिक्षण अपनी क्रिया के साथ जोड़ा जा सकता है।

5.0 सारांश

जीवन विज्ञान का संबंध मूल्यों की शिक्षा से है, अध्यात्म की शिक्षा से है। यह शिक्षा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर बल देती है। यह शिक्षा मुख्यतया आंतरिक पक्ष को परिष्कृत करती है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में अनेक समस्याएँ देखने को मिलती हैं, जिसका दुष्परिणाम भी शिक्षा जगत् के समक्ष दृष्टिगत होता रहता है। जीवन विज्ञान एक समाधान के रूप में शिक्षा जगत् की अभिनव शाखा है। इसकी उपयोगिता अनेक संदर्भों में दृष्टिगत होती है।

शिक्षा की समस्याएँ—वर्तमान शिक्षा की अनेक समस्याएँ हैं—सर्वांगीण एवं संतुलित व्यक्ति की उपेक्षा, चारित्रिक पक्ष की उपेक्षा, केवल पुस्तकीय ज्ञान की महत्ता, अभ्यासात्मक पक्ष की उपेक्षा, सांस्कृतिक मूल्यों की उपेक्षा, आंतरिक पक्ष की अवहेलना, अचेतन मन के उपयोग की उपेक्षा, नाड़ी ग्रंथि तंत्र के प्रशिक्षण का अभाव, अध्यात्म योग शिक्षा की उपेक्षा आदि।

जीवन विज्ञान की अनिवार्यता—जीवन विज्ञान की अनिवार्यता उसमें दिए जाने वाले शिक्षण बिन्दुओं से स्पष्ट होती है—आध्यात्मिक शिक्षा, आत्मानुशासन की शिक्षा, नि:शस्त्रीकरण की शिक्षा, प्राणशक्ति के विकास की शिक्षा, मस्तिष्कीय सन्तुलन की शिक्षा, नाड़ी ग्रंथि तंत्र के संतुलन की शिक्षा आदि-आदि।

जीवन विज्ञान शिक्षा का स्वरूप—जीवन विज्ञान शिक्षा का स्वरूप निम्न बिन्दुओं से समझा जा सकता है—जीवन-विज्ञान योग शिक्षा, समन्वित शिक्षा प्रणाली, आन्तरिक परिवर्तन की शिक्षा, नियमों की खोज आदि।

जीवन विज्ञान शिक्षा का आधार और प्रक्रिया—जीवन विज्ञान शिक्षा का आधार प्रशिक्षण है। प्रशिक्षण के लिए महत्त्वपूर्ण तत्व हैं—शरीर, श्वास, वाणी और मन। ये तत्त्व अप्रशिक्षित होते हैं तो समस्या पैदा करते हैं और प्रशिक्षित होते हैं तब स्वयं समाधान हैं। अत: इन चारों तत्त्वों को प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण प्रक्रिया है—प्रेक्षा अनुप्रेक्षा, कायोत्सर्ग और जागरूकता।

प्रश्नावली

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की प्रमुख समस्याएँ क्या हैं?
2. जीवन-विज्ञान की शिक्षा की अनिवार्यता क्यों है?

निबंधात्मक प्रश्न

1. जीवन के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसके आधार व प्रक्रिया को बताइये।

इकाई–2– शिक्षा और जीवन मूल्य

पाठ–4– मूल्यपरक शिक्षा : सिद्धान्त और प्रयोग

रूपरेखा

1.0 मूल्यपरक शिक्षा का स्वरूप

2.0 वर्तमान में मूल्यों की स्थिति

3.0 मूल्यों के कारक तत्त्व

4.0 मूल्य द्वंद्व एवं निर्धारित कारक

5.0 मूल्यपरक शिक्षा से अपेक्षाएँ

6.0 मूल्यपरक शिक्षा का उद्देश्य

7.0 मूल्यपरक शिक्षा : शिक्षण विधि

8.0 सारांश

उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. मूल्यपरक शिक्षा के स्वरूप को जाना जा सकता है।
2. वर्तमान में मूल्यों की स्थिति को जाना जा सकता है।
3. मूल्यों को प्रभावित करने वाले कारक तत्त्वों को माना जा सकता है।
4. मूल्य द्वंद्व तथा निर्धारित कारकों को जाना जा सकता है।
5. मूल्यपरक शिक्षा की अपेक्षाओं को जाना जा सकता है।
6. मूल्यपरक शिक्षा का उद्देश्य एवं शिक्षण विधि को जाना जा सकता है।

भूमिका

वर्तमान युग विज्ञान का युग है जिसमें नित नए-नए अनुसंधान हो रहे हैं, जिनसे नए तथ्य प्रकट हो रहे हैं। व्यक्ति के सम्मुख अनेक आकर्षण मंडरा रहे हैं। अनेक संभावनाएँ अव्यक्त हैं। इस विज्ञान ने न जाने व्यक्ति को क्या कुछ नहीं दिया है—यह ज्ञात है। कहने का तात्पर्य है कि भौतिकता की इस चकाचौंध में व्यक्ति को अधिकाधिक सुख-सुविधाएँ मिली हैं। जंगलों, गुफाओं व कन्दराओं आदि में रहने वाला मनुष्य आलीशान महलों में जीवन जी रहा है। चांद पर भी बसने की चर्चा हो रही है। नग्न अथवा छाल, पत्ती से शरीर को ढकने वाला व्यक्ति कई किस्मों के वस्त्रों से भी सम्पन्न है। कच्चा मांस अथवा फल या सामान्य भोजन करने वाला व्यक्ति तरह-तरह के भोजनों का स्वाद ले रहा है। दुनिया की सैर कुछ ही घंटों में तय कर रहा है। दूसरे ग्रहों की खोज कर रहा है। न जाने कितने ही रहस्यों का उद्‌घाटन करने में मनुष्य संलग्न है। इतना होते हुए भी ऐसी क्या कमी महसूस हो रही है जिसके कारण मूल्यपरक शिक्षा की ओर ध्यान आकृष्ट हो रहा है। अर्थात् जीवन में सुख-सुविधाओं का अम्बार लगा देने वाले भौतिक युग में मूल्यपरक शिक्षा के महत्त्व को आज स्वीकार किया जा रहा है। इससे स्पष्ट है कि भौतिक विकास एक तरफा विकास है, अपूर्ण विकास है। विकास का एक पक्ष और है, वह है आचारात्मक एवं व्यवहारात्मक। इस पक्ष के द्वारा ही जीवन में पूर्णत: सुख एवं आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। अत: मूल्यपरक शिक्षा की आवश्यकता शिक्षा के क्षेत्र में नि:संदेह प्रतीत होती है।

1.0 मूल्यपरक शिक्षा का स्वरूप

मूल्यपरक शिक्षा के नाम से ही इसमें निहित उच्चादर्शों का भान होने लगता है। मूल्यपरक शिक्षा कोई अनोखी शिक्षा नहीं

है अथवा अन्य विषयों से भिन्न शिक्षा नहीं है वरन् सभी विषयों को मूल्योन्मुख बनाने वाली एक शिक्षा है जिसमें जीवन को आदर्शमय अथवा जीवनमूल्यों से ओतप्रोत बनाने वाले तत्त्वों का समावेश है। इस शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को उन मूल्यों का ज्ञान कराया जाता है जो उसके जीवन में आवश्यक एवं अनिवार्य हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अत: यह शिक्षा व्यक्ति को सामाजिक जीवन जीने और स्वस्थ समाज के निर्माण में मदद करती है। मूल्यों के द्वारा ही व्यक्ति शुभ-अशुभ, अच्छे, बुरे का ज्ञान कर सकता है। मानव सभ्यता का इतिहास साक्षी है कि इसी शुभ के कारण कितनी सभ्यताएँ विकसित हुईं और इसी अशुभ के कारण कई सभ्यताएँ नष्ट हो गईं। अत: मूल्य कोई बाजार में बिकने वाली वस्तु नहीं है जिसे आवश्यकता पड़ने पर खरीदा जा सकता है अपितु मूल्य तो आन्तरिक हैं जिनका संबध हमारे मनोमस्तिष्क से होता है। अर्थात् ये आन्तरिक होते हैं। अत: व्यावहारिक होते हैं। समूचा अध्यात्म का मार्ग इन्हीं मूल्यों पर ही आधारित है। इनके द्वारा व्यक्ति शुद्ध आचरण करता है जो व्यक्ति के लिए सुखकर तो हैं ही साथ ही दूसरे व्यक्तियों के लिए ही नहीं अपितु सभी प्राणियों के लिए श्रेयस्कर होते हैं। इसलिए मूल्यपरक शिक्षा व्यक्ति को मूल्यों की ओर उन्मुख करने का सशक्त माध्यम है।

मानव एक उद्देश्यपूर्ण जीवन जीता है। यह उसकी सफलता के लिए आवश्यक है। मानव जीवन के इस लक्ष्य को दर्शनशास्त्र निर्धारित करता है। धर्म इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आचार-विचार आदि साधन बताता है तो शिक्षा इन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करती है। अर्थात् शिक्षा इन आचार-विचार रूपी साधनों को व्यवहारगत कराने का प्रयास करती है। अत: शिक्षा ही प्रमुख साधन बनती है जो परिवर्तन का माध्यम बनती है। यों तो भारतीय दर्शन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। यह मार्ग सरल एवं सहज नहीं है, फिर भी यह मार्ग सुख एवं शांति का मार्ग है। सामान्य व्यक्ति भले ही मोक्ष प्राप्ति की साधना न भी करे तो भी अच्छा जीवन सबको प्रिय होता है। अत: इस जीवन की प्राप्ति भी तभी हो सकती है जब व्यक्ति सदाचार का जीवन जीए। इसलिए मूल्यपरक शिक्षा इसमें सहायक बनती है जो व्यक्ति को पाशविक प्रवृत्तियों से मुक्त कराकर दैवी जीवन जीने की ओर अग्रसर करती है।

2.0 वर्तमान में मूल्यों की स्थिति

वर्तमान समय संक्रमण का काल माना जाता है जिसमें अनेक संस्कृतियों का मिश्रण हुआ है। वैज्ञानिक युग में यह संक्रमण सकारात्मक भी है लेकिन कुछ सन्दर्भों में नकारात्मक भी सिद्ध हो रहा है। सांस्कृतिक संकट की स्थिति उपस्थित हो रही है। अत: यह चिंतन का विषय भी है कि कैसे मूल्यों को कायम रखा जा सके जिससे मानव जाति अमन-चैन का जीवन जी सके। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि वर्तमान में मूल्यों का स्थान है ही नहीं। मूल्यों का स्थान अवश्य ही है तभी तो व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति संवेदनशील है लेकिन यह संवेदनशीलता कितने व्यक्तियों में है और कितनी मात्रा में है, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। ऐसा नही है कि व्यक्तियों को मूल्यों का ज्ञान नहीं है, वह है। इसका कारण है भारतीय विशाल साहित्य इन्हीं से भरा पड़ा है। वेद, उपनिषद्, पुराण, कुरान, बाइबिल, आगम, त्रिपिटक आदि साहित्यों में मूल्यों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। समस्या यह है कि व्यक्ति में आचारगत मूल्य कितने हैं—यह महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति अपने तुच्छ स्वार्थों के कारण इन जीवन-मूल्यों को स्थान नहीं देता है। शायद उसे यही भ्रम रहता है कि इन मूल्यों से उसके स्वार्थ की पूर्ति नहीं हो सकती है। भोग-विलास की प्रवृत्ति उसे अनैतिक कार्य करने के लिए प्रेरित करती है और व्यक्ति अपनी खुशी के लिए मूल्यों को भी त्याग देता है। व्यक्ति के इसी अनैतिक व्यवहार से व्यक्ति स्वयं, परिवार, समाज, राष्ट्र, यहां तक कि प्रकृति आदि कोई भी अछूते नहीं रहे हैं। ऐसा अनैतिक व्यवहार देखकर ऐसा ही प्रतीत होता है कि शिक्षा तंत्र ही इस समस्या का समाधान हो सकता है। अत: मूल्यपरक शिक्षा इसका सही समाधान हो सकता है।

वर्तमान में धार्मिक एवं सांस्कृतिक मंचों से मूल्यों की चर्चा हो रही है। नि:संदेह यह एक वातावरण बन रहा है जिसके द्वारा जागरूकता की चेतना विकसित की जा रही है। यह सकारात्मक रूप तभी ले सकता है जब व्यक्ति इसे जीवन व्यवहार में उतारें। शिक्षा भले ही औपचारिक हो अथवा अनौपचारिक, उसका उद्देश्य नैतिक व्यवहार का स्वभाव विकसित करना है। इसके लिए जीवन दर्शन तथा आदर्शों के ज्ञान के साथ-साथ उन स्थितियों के सन्दर्भ में भी विचार करना आवश्यक है जहाँ व्यक्ति को कष्ट उठाकर भी इन नैतिक व्यवहार करने का निर्णय लेना होता है। उदाहरण के लिए व्यक्ति में झूठ बोलने की आदत को मिटाना है। सामान्यतया व्यक्ति सच ही बोलता है। फिर भी जहां झूठ बोलने से लाभ होता हो और सच बोलने से हानि होती हो तब विचारणीय प्रश्न हो जाता है कि ऐसी स्थिति में कैसा व्यवहार करता है, सच बोलता है कि झूठ। कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति का सामान्य व्यवहार अच्छा ही होता है पर स्वार्थ सम्मुख होने पर व्यक्ति अच्छा ही व्यवहार करे—यह आवश्यक नहीं है। सामान्यतया व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर ही अनैतिक आचरण करते हैं। जो व्यक्ति स्वार्थ का त्याग कर सत्य का, शुभ का मार्ग चुने, वही वास्तव

में नैतिक है। अत: मूल्यपरक शिक्षा के द्वारा यह सिद्धान्त प्रतिपादित करना होगा कि व्यक्ति अपने परिवार के हित के लिए अपना स्वार्थ त्यागे, समाज के हित के लिए परिवार का स्वार्थ त्यागे, राष्ट्र के हित के लिए समाज हित त्यागे तथा सार्वभौम के लिए राष्ट्रहित त्यागे। यह बहुत बड़ी बात है। ऐसा कार्य वही व्यक्ति कर सकता है जिसने नैतिकता को वास्तव में आत्मसात् कर लिया हो। व्यक्ति अपनी सोच को सही रखे तो असंभव भी संभव हो जाता है।

3.0 मूल्यों के कारक तत्त्व

नैतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक अनेक हो सकते हैं। यदि इस पर दार्शनिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाए तो सच्चाई का ज्ञान हो सकता है और समस्या-समाधान का मार्ग भी प्रशस्त होता है। अत: नैतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों को मुख्यतया तीन भागों में बांटा गया है—व्यक्ति की आवश्यकताएँ, व्यक्ति के गुण तथा जीवन-मूल्य। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारक हैं—जीवन मूल्य। यों तो जीवन-मूल्य विश्वव्यापी हैं, फिर भी समाज के जीवन-दर्शन के आधार पर कुछ जीवन-मूल्यों पर अधिक बल दिया जाता है, कुछ पर कम। उदाहरण के लिए भारतीय और पाश्चात्य जीवन-दर्शन को समझा जा सकता है। पाश्चात्य दर्शन परस्पर प्रतियोगिता पर हावी है तो भारतीय जीवनदर्शन परस्पर सहयोग को श्रेष्ठ मानता है। पाश्चात्य जीवनदर्शन संघर्ष पर आधारित है तो भारतीय दर्शन सह-अस्तित्व पर विश्वास करता है। इसी प्रकार पाश्चात्य दर्शन भोग और शोषण को महत्त्व देता है तो भारतीय दर्शन त्याग और दोहन के सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज के अपने मूल्य निर्धारित होते हैं। नैतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक हैं—

3.1 व्यक्ति की आवश्यकताएँ

इसके अन्तर्गत निम्न आवश्यकताएँ हैं—

(क) भौतिक आवश्यकताएँ—भौतिक या शारीरिक आवश्यकता के अन्तर्गत भूख, प्यास, नींद, आवास सम्मिलित होते हैं।

(ख) मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ—इसके अन्तर्गत स्वतंत्रता, संप्राप्ति, संतोष, प्रसन्नता, अधिकार, अहम्, आक्रामकता आदि सम्मिलित हैं।

(ग) सामाजिक आवश्यकताएँ—इसके अंतर्गत मान्यता, संबंध, मित्रता, सहानुभूति आदि सम्मिलित होते हैं।

2. व्यक्तिगत गुण—व्यक्तिगत गुणों के अन्तर्गत परिश्रमी, एकाग्रचित्तता, साहसी, सत्यनिष्ठा, शिष्टाचार, दायित्व बोध, संकल्पशक्ति, धैर्य, अनुशासन आदि प्रमुख हैं।

3. जीवन-मूल्य—इसके अन्तर्गत निम्न हैं—

(क) सामाजिक चेतना—सामाजिक चेतना में संवेदनशीलता, समरसता, नेतृत्व, सहयोग, पर्यावरण चेतना आदि प्रमुख हैं।

(ख) देशभक्ति—इसके अन्तर्गत हैं—कर्त्तव्य बोध, समर्पण, अखण्डता, स्वतंत्रता आदि।

(ग) संस्कृति निष्ठा—सेवाभाव, महापुरुषों का सम्मान, राष्ट्र तथा उससे संबंधित परम्पराओं आदि का सम्मान, सर्वधर्म समभाव आदि प्रमुख हैं।

(घ) आध्यात्मिकता—इसके अन्तर्गत हैं—नि:स्वार्थ सेवा, लक्ष्य निष्ठा, ज्ञानयुक्त श्रद्धा, आत्म तत्त्व में विश्वास, ईश्वर-भक्ति, प्रकृति प्रेम, प्रसन्न चित्तता, संतोष आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नैतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों के अंतर्गत भी अनेक उपकारक समाहित हैं। माना जाता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व गतिशील है, परिवर्तनशील है। इसका यही कारण है कि उसके समक्ष अनेक उद्दीपन हैं। प्रत्येक उद्दीपन की अनुभूति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह कैसी प्रतिक्रिया करता है। यह भी उसके आन्तरिक और बाह्य वातावरण पर निर्भर करता है।

4.0 मूल्य द्वन्द्व एवं निर्धारित कारक

मूल्यपरक शिक्षा का उद्देश्य एक सदाचारी एवं सुखी व्यक्तित्व का निर्माण कर सदाचारी एवं सुखी समाज की रचना करना है। व्यक्ति की दृष्टि से इसके तीन सोपान हैं—

1. व्यक्ति का विकास मानवीय मूल्यों के आधार पर करना जिसके लिए ईमानदारी, सादगी, सच्चरित्र, त्याग आदि अपेक्षित हैं।

2. जीवन से संबंधित स्थितियों में उससे उचित व्यवहार की अपेक्षा की जाती है।

3. व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह विभिन्न स्तरों पर उपजी दूसरे व्यक्तियों की समस्या का समाधान कर सके।

जब इन तीनों सोपानों का पालन व्यक्ति द्वारा किया जाता है तो नैतिक विकास की पूर्णता माना जाता है। अन्यथा व्यक्ति का नैतिक विकास पूरा नहीं माना जा सकता है। नैतिक विकास न होने के पीछे भी कई समस्याएँ हैं जो विभिन्न प्रकार के संघर्षों से उत्पन्न होती हैं। इनके निम्न कारण हैं—

1. व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताएँ।
2. व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ।
3. व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताएँ।
4. व्यक्ति के गुण।
5. जीवन-मूल्य (सामाजिक मूल्य)।

इन पांचों कारकों में विभिन्न अन्तहकारक संघर्ष पैदा हो सकते हैं जो निम्न हैं—

1. भौतिक आवश्यकताएँ बनाम मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ।
2. भौतिक आवश्यकताएँ बनाम सामाजिक आवश्यकताएँ।
3. भौतिक आवश्यकताएँ बनाम व्यक्तिगत गुण।
4. भौतिक आवश्यकताएँ बनाम सामाजिक मूल्य।
5. मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ बनाम सामाजिक आवश्यकताएँ।
6. मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ बनाम व्यक्तिगत गुण।
7. मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ बनाम सामाजिक मूल्य।
8. सामाजिक आवश्यकताएँ बनाम व्यक्तिगत गुण।
9. सामाजिक आवश्यकताएँ बनाम सामाजिक मूल्य।
10. व्यक्तिगत गुण बनाम सामाजिक मूल्य।

इस प्रकार प्रत्येक कारक में एक-दूसरे के बीच संघर्ष हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति की जो आवश्यकता प्रबल होती है तो दूसरी उसे रोकती है। इसका परिणाम होता है—संघर्ष। इसमें भी जो आवश्यकता हावी होती है, व्यक्ति उसे ही आचरण का अंग बना लेता है।

बोध प्रश्न

1. मूल्य-परक शिक्षा क्या है?
2. भौतिक आवश्यकताएँ क्या हैं?
3. मूल्य-परक शिक्षा का उद्देश्य क्या है?
4. संघर्ष कब होता है?
5. मूल्य-परक शिक्षा के आयोजन में मुख्यत: कितने सोपान हैं?

5.0 मूल्यपरक शिक्षा से अपेक्षाएँ

वर्तमान में शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यपरक शिक्षा की चर्चा चल रही है। इस विषय पर अनेक सम्मेलन, कार्यगोष्ठियाँ आदि कार्यक्रम सरकारी, गैर-सरकारी तथा स्वायत्त संस्थाओं में आयोजित किये जा रहे हैं। विद्यार्थियों को मूल्यपरक शिक्षा देने के संदर्भ में मूल प्रश्न हैं कि—

1. क्या मूल्यपरक शिक्षा द्वारा व्यक्ति को सज्जन और सुखी बनाना चाहते हैं?
2. क्या मूल्यपरक शिक्षा द्वारा समाज को नैतिक बनाना चाहते हैं?
3. क्या जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पैदा हो रही समस्याओं का समाधान पाना चाहते हैं?

इस प्रकार के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न मूल्यपरक शिक्षा के समक्ष हैं। प्राय: देखा जाता है कि सदैव ही समाज में सज्जन और असज्जन दोनों ही प्रकार के व्यक्ति रहे हैं। देखा यह जाता है कि असज्जन लोग तो समूह में रहते हैं, एक संगठन में रहते हैं लेकिन सज्जन लोग असंगठित रहते हैं। वे एक-दूसरे के प्रति उदासीन रहते हैं। उनका एक दार्शनिक सिद्धान्त होता है कि हमें किसी से कोई मतलब नहीं है। परिणामस्वरूप असज्जनों द्वारा समस्याएँ पैदा की जाती हैं जिनका शिकार सज्जनों को ही बनना पड़ता है। वे उन समस्याओं का समाधान भी नहीं कर पाते हैं। अत: यह अपेक्षा की जाती है कि मूल्यपरक शिक्षा द्वारा व्यक्ति के विभिन्न स्तरों की समस्याओं को कम किया जा सकता है तथा सज्जनों के संगठित और सक्रिय होने पर उन समस्याओं का समाधान भी सहज रूप से हो सकेगा। इस प्रकार मूल्यपरक शिक्षा से यह अपेक्षा करने पर उसके आयोजन में व्यक्ति विकास के मुख्य तीन सोपानों पर ध्यान रखना आवश्यक होगा—

प्रथम सोपान—प्रत्येक व्यक्ति को नैतिक होना है जिससे उसके व्यवहार में सज्जनता, साधुता आ सके। वह अपने जीवन को सुखी तथा शांतिपूर्ण बना सके। इसके अतिरिक्त वह सदैव नैतिक व्यवहार करे जिससे वह व्यक्तित्व को संतुलित तथा सात्विक बना सके।

द्वितीय सोपान—व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि उसका व्यवहार सम तथा विषम परिस्थिति में संतुलित रहे। वह समस्याओं का समाधान सहज रूप से कर सके। सामाजिक मूल्यों का पालन करते समय वह अपने व्यक्तिगत गुणों को आधार बनाए। साथ ही आवश्यकता पड़ने पर वह सामाजिक मूल्यों तथा व्यक्तिगत गुणों की रक्षा के लिए अपनी भौतिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक समस्याओं का त्याग कर सके।

तृतीय सोपान—मूल्यपरक शिक्षा की पूर्णता तभी मानी जाती है जब दूसरों की समस्याओं को समझने, उनके प्रति संवेदनशीलता रखने तथा उनके साथ सहयोग का आचरण हो। भले ही व्यक्ति पर उस समस्या का कोई भी प्रभाव न पड़ा हो लेकिन एक सामाजिक प्राणी होने के नाते यह उसका कर्त्तव्य है कि वह दूसरों की समस्या के समाधान में सहयोगी बने।

6.0 उद्देश्य

मूल्यपरक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है—व्यक्ति को ऐसी प्रेरणा देना कि वह विभिन्न स्थितियों में ऐसा व्यवहार कर सके जिससे उसे तथा उसके व्यवहार से प्रभावित होने वाले सभी प्राणियों को सुख एवं संतोष प्राप्त हो सके। अर्थात् व्यक्ति स्वयं तो सुख एवं आनन्द का अनुभव कर सके, साथ ही उसके व्यवहार से परिवार, पड़ोस, जाति, समाज, नगर, प्रदेश, देश, विश्व तथा ब्रह्माण्ड में सुख एवं आनन्द का सृजन हो सके। उसमें ऐसे मानवीय मूल्यों का विकास हो जिससे वह व्यापक हित के लिए सीमित हित का त्याग कर सके। अर्थात् ब्रह्माण्ड हित के लिए विश्व, विश्वशांति के लिए देश, देश के लिए प्रदेश, प्रदेश के लिए नगर के हित का त्याग कर सके। इसी प्रकार समाजहित के लिए अपनी जाति, जाति हित हेतु परिवार तथा परिवार के हित के लिए स्वयं का हित त्याग सके। यह तभी संभव है जब व्यक्ति अपनी शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की अपेक्षा व्यक्तिगत गुणों को तथा व्यक्तिगत गुणों की अपेक्षा सामाजिक मूल्यों को वरीयता दे। व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। अत: समाज में सुख एवं आनन्द होने पर ही व्यक्ति भी सुखी एवं आनन्दमय रह सकता है।

बोध प्रश्न

---

1. नैतिक-व्यवहार का पोषण कितने स्तरों पर होता है?
2. शिक्षण-विधि कब निर्धारित की जाती है?
3. मूल्य-बोध के लिए क्या आवश्यक है?
4. संस्कार कहां पुष्ट होते हैं?
5. मूल्य-परक शिक्षा की क्रियान्विति कब हो सकेगी?

7.0 मूल्यपरक शिक्षा : शिक्षण विधि

व्यक्ति में नैतिक व्यवहार का पोषण करने हेतु तीन स्तर हैं—सकारात्मक भाव, सकारात्मक भावों पर आधारित सकारात्मक विचारों का सृजन तथा आचरण। अत: नैतिक व्यवहार की पूर्णता व्यवहार पर ही आधारित है। अत: इन्हीं स्तरों को ध्यान में रखते हुए इसकी शिक्षण विधि भी अपनानी होगी। शिक्षण विधि की चर्चा करने से पहले मूल्यपरक शिक्षा द्वारा संस्कार ग्रहण से संबंधित विभिन्न तथ्यों को ज्ञात कर लेना भी आवश्यक माना जाता है।

1. नैतिक शिक्षा केवल भावात्मक एवं संज्ञानात्मक ज्ञान न होकर व्यवहारात्मक है।
2. व्यक्ति द्वारा स्वेच्छा से ग्रहण किये जाते हैं। थोपे नहीं जा सकते हैं।
3. यह शिक्षा विद्यालय में दी जा सकती है पर परिवार और समाज का सहयोग भी अपेक्षित है। विकल्प में कुछ और सीखा जाता है। विद्यालय से बाहर का वातावरण कुछ और होता है। अत: सबका सहयोग आवश्यक है।
4. संचार माध्यमों से प्रसारित होने वाले कार्यक्रम स्वस्थ एवं अनुकूल हों।
5. नैतिक व्यवहार का मूल्यांकन केवल विद्यालय में ही नहीं किया जा सकता है अपितु यह सर्वत्र देखा जा सकता है।

अत: इन महत्त्वपूर्ण बिन्दुओ को ध्यान में रखकर शिक्षण विधि की व्यवस्था करनी होगी। यों तो शिक्षण विधियों की कोई सीमा नहीं है। अर्थात् उन्हें सीमा में नहीं बांधा जा सकता है। विषय को विद्यार्थियों की योग्यता आदि को ध्यान में रखकर ही शिक्षण विधि निर्धारित की जाती है। जहां तक मूल्यपरक शिक्षा का प्रश्न है वहां सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों ही विधियों को महत्त्व देना आवश्यक होगा। अत: सिद्धान्त और प्रयोग इस मूल्यपरक शिक्षा की शिक्षण विधि है।

7.1 सैद्धान्तिक ज्ञान—मूल्यपरक शिक्षा के लिए आवश्यक है सैद्धान्तिक ज्ञान। जब तक सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं होगा तब तक विद्यार्थी उसे व्यवहारगत भी नहीं कर सकता है। सैद्धान्तिक ज्ञान के द्वारा मूल्यबोध आवश्यक है। सैद्धान्तिक ज्ञान विद्यार्थी के समक्ष होने से वह उस पर विचार कर सकता है, तभी उसे आचरणगत कर सकता है। सिद्धान्त का अपना महत्त्व है। सिद्धान्त विस्तृत ज्ञान प्रदान करता है। अर्थात् किसी विषय को जानने हेतु यह सैद्धान्तिक ज्ञान उपलब्ध न हो तो उस विषय की जानकारी का भी अभाव ही बना रहेगा। अत: विद्यार्थी को मूल्यपरक शिक्षा की जानकारी देना आवश्यक है। विद्यार्थी को प्रेरित करने वाली महापुरुषों की जीवनियां या अन्य तरह की जानकारी साहित्य के ही माध्यम से अथवा सैद्धान्तिक ज्ञान के आधार पर ही दी जा सकती हैं। भले ही संचार माध्यमों से हो अथवा किसी अन्य माध्यम से। मूल्यपरक शिक्षा के लिए आवश्यक है कि विद्यार्थी को परिणाम बोध की भी जानकारी होनी चाहिए। तभी विद्यार्थी की प्रवृत्ति उस व्यवहार को ग्रहण करने अथवा त्यागने की बनती है। सैद्धान्तिक ज्ञान की अपनी उपयोगिता है। इसे नकारा नहीं जा सकता है लेकिन इसके साथ यदि प्रयोग जुड़ जाएँ तो यह ज्ञान व्यावहारिक स्तर पर घटित होने में मदद करेगा। अत: सैद्धान्तिक+प्रायोगिक प्रशिक्षण का समन्वय आवश्यक है।

7.2 प्रायोगिक प्रशिक्षण—प्रायोगिक प्रशिक्षण के द्वारा विभिन्न मूल्यों, जैसे—सत्य, अहिंसा, करुणा, मैत्री, प्रामाणिकता आदि की अनुप्रेक्षा के द्वारा यह अवचेतन मन तक पहुंचाया जा सकता है। परिवर्तन केवल सतही स्तर पर नहीं होता है, उसके लिए गहराई में जाना आवश्यक है। इसलिए ध्यान-अनुप्रेक्षा के द्वारा मूल्यों को अवचेतन की गहराई में रोपा जा सकता है। वहां संस्कार पुष्ट हो जाते हैं और वही व्यवहार का अंग बन जाते हैं। ध्यान योग के ये प्रयोग आलंबन बनते हैं। इन आलम्बनों का निरन्तर अभ्यास आवश्यक है। आलम्बन होने मात्र से समस्या का समाधान नहीं हो जाता है। इन आलम्बनों का अभ्यास जब तक नहीं किया जाता, वे व्यवहारगत नहीं हो सकते हैं। यों तो विद्यालयों में भी अनेक आलम्बनों के द्वारा विद्यार्थी के व्यवहार को बदलने की बात सोची जाती है अथवा आलम्बनों का उपयोग किया जाता है। तब ही विद्यार्थी व्यवहार परिवर्तन के स्तर तक पहुंच पाते हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उपाय-बोध होने से अथवा आलंबनों का ज्ञान होने मात्र से वे व्यवहार का हिस्सा नहीं बन पाते हैं। इसलिए आलंबनों का दीर्घकाल तक निरन्तर प्रयोग करना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि मूल्यपरक शिक्षा को केवल सैद्धान्तिक रूप से लागू कर देने मात्र से इसका फल नहीं मिल सकता है। इसके लिए आवश्यक होगा कि सिद्धान्त के साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण को भी स्थान देना आवश्यक है। इन दोनों की क्रियान्विति से ही मूल्यपरक शिक्षा सही अर्थों में प्रकट हो सकेगी।

8.0 सारांश

वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है जिसमें नई-नई खोजें निरन्तर होती रहती हैं। इस युग में व्यक्ति के पास अनेक प्रकार की सुख-सुविधाएँ हैं। फिर भी जीवन में कुछ-न-कुछ अछूता ही रह गया है। इसका यह परिणाम हो रहा है कि अनेक समस्याओं का विस्तार

भी साथ में हो रहा है। व्यक्ति का आचार-व्यवहार कई सन्दर्भों में नकारात्मक रूप से उभर रहा है। इसका सामना सभी वर्ग कर रहे हैं। अत: एक ऐसी शिक्षा की आवश्यकता महसूस हो रही है जो मानव को सही अर्थों में मानव बनाए जिससे व्यक्ति, समाज तथा प्राणी मात्र सुख चैन से जी सकें।

मूल्यपरक शिक्षा का स्वरूप—मूल्यपरक शिक्षा ऐसी शिक्षा-व्यवस्था है जिसमें सभी विषयों को मूल्योन्मुख बनाना है अर्थात् सभी विषयों में तत्संबंधी मूल्यों का समावेश करना है। इससे यह लाभ मिल सकेगा कि भले ही मूल्य शिक्षा स्वतंत्र विषय नहीं भी है तो सभी विषयों के द्वारा मूल्यों को हस्तगत किया जा सकेगा।

वर्तमान में मूल्यों की स्थिति—वर्तमान का समय सांस्कृतिक संकट का समय है। वेषभूषा, खान-पान, आचार-व्यवहार सभी में विभिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। एक-दूसरे की सही बातों का अनुकरण गलत नहीं कहा जा सकता है। गलत होता है अंधानुकरण। इसका दुष्प्रभाव समाज पर पड़ता है। वर्तमान में कुछ स्थितियां ऐसी भी हैं जिसका समाज में दुष्प्रभाव पड़ रहा है। अत: इस स्थिति में मूल्यों की उपयोगिता बढ़ जाती है। दूसरी ओर समाज में स्वार्थवृत्ति के कारण भी अनेक समस्याएँ पैदा हो रही हैं। अत: इस समस्या का समाधान भी मूल्यपरक शिक्षा से हो सकता है।

मूल्यों के कारक तत्त्व—मूल्यों के व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक अनेक होते हैं। इनहीं से मूल्य भी प्रभावित होते हैं। अत: ये निम्न हैं—

1. व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताएँ, व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ, व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताएँ, व्यक्तिगत गुण और जीवन-मूल्य।

मूल्य द्वन्द्व—जब व्यक्ति की अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ और उसके गुण एवं जीवन मूल्य आपस में टकराते हैं तो मूल्य द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है। जैसे—भौतिक आवश्यकता मनोवैज्ञानिक आवश्यकता बन जाती है आदि।

मूल्यपरक शिक्षा से अपेक्षाएँ—मूल्यपरक शिक्षा से यह अपेक्षा की जाती है कि व्यक्ति का व्यवहार मूल्यों से ओत-प्रोत हो। वह अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं कर सके तथा दूसरों की समस्याओं के समाधान में भी सहयोगी बन सके।

मूल्यपरक शिक्षा का उद्देश्य—मूल्यपरक शिक्षा का यही उद्देश्य है कि व्यक्ति नैतिक व्यवहार करे तथा सर्वत्र सुख एवं आनन्द का सृजन करे। वह परिवार के हित के लिए व्यक्तिगत हित का त्याग करे, समाज के हित के लिए परिवार के हितों का त्याग कर सके। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के हित के लिए विश्व के हितों का त्याग कर सके।

मूल्यपरक शिक्षा : शिक्षण-विधि—मूल्यपरक शिक्षा न कोरा सिद्धान्त है और न कोरा प्रयोग वरन् यह दोनों का समन्वित रूप है। अत: मूल्यपरक शिक्षा का शिक्षण देते समय सिद्धान्त और प्रायोगिक प्रशिक्षण आवश्यक है। प्रायोगिक प्रशिक्षण में ध्यान-योग के प्रभाव आवश्यक हैं, जिससे विद्यार्थी का आन्तरिक परिवर्तन हो सकेगा। आन्तरिक परिवर्तन ही व्यवहार शुद्धि का भी माध्यम बनता है।

प्रश्नावली

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मूल्य-परक शिक्षा का स्वरूप बताइये।
2. मूल्य-द्वन्द्व एवं निर्धारक कारक बताइये।

निबंधात्मक प्रश्न

1. मूल्य-परक शिक्षा का उद्देश्य एवं शिक्षण-विधि स्पष्ट कीजिए।

इकाई–3–जीवन विज्ञान और व्यक्तित्व विकास

पाठ–5– शिक्षा और मुक्ति की अवधारणा

रूपरेखा

1.0 शिक्षा और मुक्ति की अवधारणा

2.0 सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास

3.0 स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास

4.0 शिक्षा और भावात्मक परिवर्तन

5.0 संवेग–संवेद नियंत्रण की पद्धति

6.0 मस्तिष्क नियंत्रण की पद्धति

उद्देश्य

इस पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. शिक्षा और मुक्ति की अवधारण को समझा जा सकता है।
2. सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास को समझा जा सकता है।
3. स्वतंत्र व्यक्ति विकास से संबंधित अन्य तथ्यों को समझा जा सकता है।
4. शिक्षा और भावात्मक परिवर्तन को समझा जा सकता है।
5. संवेग–संवेद नियंत्रण की पद्धति को समझा जा सकता है।
6. मस्तिष्क नियंत्रण की पद्धति को समझा जा सकता है।

भूमिका

जीवन विज्ञान व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया है। इस विकास के लिए अनेक स्तरों से गुजरना भी आवश्यक हो जाता है। अत: जीवन विज्ञान में इस हेतु अनेक प्रयास किये गए हैं। माना जाता है कि व्यक्तित्व गतिशील होता है। अर्थात् व्यक्ति का व्यवहार प्रतिक्षण बदलता रहता है। फिर भी किसी व्यवहार में स्थायित्व भी रहता है। **यदि व्यवहार सकारात्मक है तो समस्या नहीं होती है लेकिन व्यवहार नकारात्मक होता है तो अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं।** इसलिए व्यक्तित्व में ऐसे तत्त्वों का समावेश आवश्यक हो जाता है जिसकी परिणति सकारात्मक ही हो। साधारणतया व्यक्तित्व अनेक गुणों, संस्कारों, भावनाओं, विचारों आदि का सम्मिलित रूप है। अर्थात् व्यक्तित्व के संगठन में अनेक तत्त्वों का समावेश पाया जाता है। अत: इसको परिष्कृत करना भी सरल कार्य नहीं है। व्यक्तित्व विकास एक धीमी प्रक्रिया है। इसका परिणाम दूरगामी होता है। इसके विकास के लिए वर्तमान शिक्षा में भिन्न–भिन्न तरह की व्यवस्था सम्मिलित है। जीवन विज्ञान की शिक्षा में भी व्यक्तित्व विकास को सर्वोपरि माना गया है। अत: इसके विकास के लिए अनेक आयामों का परिष्कार इसके साथ निहित है। योग शिक्षा होने के कारण जीवन विज्ञान विद्यार्थी के अचेतन को परिष्कृत करने में सहायक बनती है। यह एक वैज्ञानिक पद्धति है जिसमें नाड़ी ग्रंथितंत्रीय संतुलन को विशेष स्थान दिया गया है। अत: प्रस्तुत पाठ में व्यक्तित्व विकास हेतु जीवन विज्ञान के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट किया गया है।

शिक्षा जगत् का प्रसिद्ध सूत्र है—सा विद्या या विमुक्तए—अर्थात् शिक्षा वह है जो मुक्ति प्रदान करे। मुक्ति का अर्थ होता है मुक्त होना, छूटना, मोक्ष प्राप्त करना। भारतीय संस्कृति में मुक्ति को अथवा मोक्ष को अंतिम लक्ष्य माना गया है। अत: इसी बात को ध्यान में रखकर शिक्षा का उद्देश्य भी मुक्ति ही रखा गया। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति अपने गुणों का उत्तरोत्तर विकास करता है। शिक्षा के अभाव में व्यक्ति का जीवन पशु तुल्य होता है। शिक्षा ही व्यक्तित्व को सजाने–संवारने तथा अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक होती है। अत: **'शिक्षा से मुक्ति'** की अवधारणा भारतीय मनीषियों का विषय रहा है।

1.0 शिक्षा और मुक्ति की अवधारणा

आचार्य महाप्रज्ञ ने शिक्षा के क्षेत्र में मुक्ति की अवधारणा को व्यापक संदर्भों में प्रयोग किया है। उनके अनुसार मुक्ति की अवधारणा निम्न प्रकार है—

1.1 अज्ञान से मुक्ति

अज्ञान दो शब्दों से बना है—अ+ज्ञान। अ का अर्थ है नहीं तथा ज्ञान का अर्थ है—समझ। अर्थात् जहां ज्ञान का अभाव है, समझ का अभाव है, वह अवस्था अज्ञान की होती है। अज्ञान ही सभी समस्याओं का मूल होता है। व्यक्ति अपने जीवन में न जाने कितनी ही गलतियां करता है, न जाने कितनी ही बार असफल होता है, न जाने अपने जीवन में कितनी ही बार दु:खों से ग्रसित होता है, दु:ख भोगता है। इन सबके पीछे अज्ञान ही होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का मानना है कि अज्ञान के कारण ही व्यक्ति अनेक अनर्थ करता है क्योंकि अज्ञान आवरण है, बंधन है। व्यावहारिक जीवन में यह बात स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है कि व्यक्ति जीवन में इस बंधन के कारण ही दु:ख भोगता है। अत: शिक्षा के क्षेत्र में मुक्ति का अर्थ है—इस बंधन से मुक्ति मिलना, अज्ञान से मुक्त करना। अत: अज्ञान जीवन के विकास में बहुत बड़ी बाधा है। इस बाधा को दूर किये बिना व्यक्ति अपने जीवन में सफल नहीं हो सकता, सुखी नहीं हो सकता है। इसलिए आवश्यकता है कि अज्ञान से मुक्ति मिले। अज्ञान से छुटकार मिले। इसका सर्वोत्तम साधन शिक्षा है।

1.2 संवेगों के अतिरेक से मुक्ति

व्यक्ति के जीवन में संवेगों का भी अपना महत्त्व होता है। ये संवेग सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों ही प्रकार के होते हैं। सकारात्मक संवेग जीवन में सफलता के माध्यम हैं तो निषेधात्मक संवेग असफलता के लिए जिम्मेदार होते हैं। अत: संवेगों के अतिरेक से मुक्ति आवश्यक है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का मानना है कि जब व्यक्ति में संवेगों का अतिरेक होता है तो वह व्यक्ति को पकड़ लेता है और वह आसानी से नहीं छूटता है। **संवेगों के कारण ही व्यक्ति न तो परिवार, न समाज और न ही अपने अन्य क्षेत्रों में समायोजित हो पाता है।** यह स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति के संवेग अधिक होते हैं, वह व्यक्ति अपने लिए तो समस्या पैदा करता है, साथ ही दूसरों के लिए भी सिरदर्द बन जाता है। उदाहरणार्थ यदि कोई बहुत क्रोधी स्वभाव का होता है तो उसका वह क्रोध उसके लिए तो हानिकारक होता है जिसका प्रभाव उसके शरीर तथा मन पर भी पड़ता है। अर्थात् उसके स्वास्थ्य को प्रभावित करता है। साथ ही परिवार के सदस्यों को भी उस क्रोध का शिकार होना पड़ता है। अर्थात् पारिवारिक सदस्य भी उसके क्रोध से प्रभावित होते हैं, दु:खी होते हैं। इसी तरह समाज में भी क्रोधी व्यक्ति का व्यवहार प्रभावकारी नहीं माना जाता है। अनावश्यक क्रोध कहीं पर भी मान्य नहीं होता है। इस स्थिति में क्रोधी व्यक्ति दूसरों के लिए सिरदर्द बन जाता है। इसी तरह अन्य संवेग हैं जो व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए सिरदर्द बन जाते हैं। अत: ऐसी स्थिति में यह आवश्यकता प्रतीत होती है कि शिक्षा के द्वारा संवेगों के अतिरेक से मुक्ति मिले। इसका तात्पर्य है कि शिक्षा के द्वारा व्यक्ति अपने इन अनावश्यक संवेगों पर नियंत्रण करने की क्षमता को बढ़ा सके। वह उन्हें एक सीमा में बांध सके। सफल जीवन के लिए संवेगों का संतुलन आवश्यक है।

3. संवेदों के अतिरेक से मुक्ति—संवेदों का संबंध इन्द्रियों से होता है। हमारी इन्द्रियों में संवेदन का गुण पाया जाता है। यदि यह संवेदना निरन्तर बनी रहे तो इससे शक्ति का अपव्यय होता है। हमारी इन्द्रियां जितनी अधिक क्रियाशील होंगी, शक्ति का अपव्यय भी उतना ही अधिक होता है। जब इन्द्रियों के साथ मस्तिष्क की क्रियाशीलता जुड़ जाती है तो हमारी इन्द्रियां भी सक्रिय हो जाती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना स्वभाव होता है। आंख का कार्य देखना है तो कान का कार्य सुनना। इसी प्रकार जीभ स्वाद के लिए जिम्मेदार है तो नाक सूंघने के लिए तथा त्वचा स्पर्शन के लिए। **प्रत्येक इन्द्रिय जब सक्रिय होती है तो उसमें मस्तिष्क की शक्ति क्षीण होती हैं। अत: इन्द्रियों की संवेदनाओं को कम करके मस्तिष्क की शक्ति को बचाया जा सकता है।** आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं कि इन्द्रियों की जो संवेदनाएँ हैं, उनका अतिरेक समस्याएँ पैदा करता है और समाज में उलझनें उत्पन्न करता है। इसलिए शिक्षा के द्वारा संवेदों के अतिरेक से मुक्ति मिलनी चाहिए।

4. धारणा और संस्कार से मुक्ति—आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं कि व्यक्ति धारणाओं और अर्जित संस्कारों के कारण दु:ख पाता है। इसलिए इनसे मुक्ति मिलनी चाहिए। प्राय: व्यक्ति अपने जीवन में कुछ धारणाएँ ऐसी बना लेता है जो उसके व्यवहार का अंग बन जाती है। उन्हें वह आसानी से छोड़ भी नहीं सकता है। आवश्यक नहीं है कि ये धारणाएँ उसके जीवन में सकारात्मक ही प्रभाव डालती हैं। इसी प्रकार कुछ संस्कार भी इसी तरह के होते हैं जिन्हें व्यक्ति के व्यवहार में देखा जा सकता है। उन संस्कारों

के कारण व्यक्ति दु:खी रहता है। अत: शिक्षा के द्वारा ऐसी धारणाओं और संस्कारों से मुक्ति मिलनी चाहिए जिससे जीवन में नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

5. निषेधात्मक विचारों से मुक्ति—निषेधात्मक विचारधारा व्यक्तित्व को विघटित करने में सहायक होती है। निषेधात्मक भावों के कारण व्यक्ति का मनोबल कम होने लगता है और वह अपने जीवन में सफलता को प्राप्त नहीं कर पाता है। इसके अतिरिक्त भी निषेधात्मक विचारों के कारण व्यक्ति में उत्साह की कमी भी हो जाती है। उसकी शक्तियों का सही उपयोग भी नहीं हो पाता है। इसलिए इन विचारों से मुक्ति मिलनी चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त पांच सन्दर्भों में मुक्ति की अवधारणा वास्तव में शिक्षा जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। विद्यार्थी अपने जीवन में इन समस्याओं से ग्रसित रहेगा तो उसका सर्वांगीण विकास संभव नहीं हो सकेगा। अत: आचार्य महाप्रज्ञ ने इन प्रमुख समस्याओं के संदर्भ में मुक्ति की अवधारणा को स्पष्ट किया है।

2.0 सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास

सर्वांगीण विकास के लिए मुख्यत: चार बातें आवश्यक बतायी गई हैं। वे हैं—शारीरिक विकास, मानसिक विकास, बौद्धिक विकास, भावनात्मक विकास। विकास के कई आयाम हैं। केवल कुछ पक्षों के ही विकास से जीवन का विकास संभव नहीं हो सकता है। उदाहरणार्थ भोजन में यदि आवश्यक तत्त्वों का अभाव होता है तो भोजन न तो स्वादिष्ट हो सकता है और न ही पौष्टिक हो सकता है। कहने का तात्पर्य है कि भोजन में नमक, घी, चीनी आदि का अपना-अपना विशेष महत्त्व रहता है। इनके अभाव में भोजन की महत्ता कम हो जाती है। इसी प्रकार भोजन में दाल, चावल, गेहूं, फल आदि का अपना-अपना विशेष महत्त्व है। इनके अभाव में शरीर को पौष्टिक तत्त्वों की पूर्ति नहीं हो सकेगी। फलत: स्वास्थ्य प्रभावित होगा। इसी प्रकार जीवन में विकास के कई पक्ष हैं। इन पक्षों के विकास न होने से व्यक्तित्व तो प्रभावित होता ही है, साथ ही समाज भी प्रभावित होता है। समाज में ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। जो समाज के लिए उपयोगी हो। समाज में चोर, हत्यारा आदि की उपयोगिता नहीं होती है। उपयोगिता उस व्यक्ति की होती है, जिसमें परोपकार की भावना हो, त्याग की भावना हो तथा कर्त्तव्यनिष्ठा एवं मैत्री आदि की भावना हो। अत: ऐसे व्यक्तित्व तभी बन सकते हैं जब वे जीवन के सभी पक्षों का विकास कर लें।

जीवन के आवश्यक पक्ष हैं—शारीरिक विकास, मानसिक विकास, बौद्धिक विकास तथा भावनात्मक विकास। इनको भिन्न-भिन्न प्रकार से निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

1. शरीरिक विकास—शारीरिक विकास का अर्थ है—शरीर का विकास, उससे संबंधित पक्षों का विकास। बच्चा अपने विकास के क्रम में अनेक स्तरों से गुजरता है। बैठना सीखता है, चलना सीखता है। धीरे-धीरे वह शरीर से स्वस्थ, सुगठित होता है तो फिर उसे सहारे की आवश्यकता नहीं होती है। शरीर का विकास इसलिए आवश्यक है कि इसी शरीर में मन, बुद्धि, भाव आदि स्थित हैं। शरीर दृश्य है, मूर्त्त है। जब शरीर स्वस्थ नहीं होता है तब व्यक्ति कार्य करने में भी असमर्थ हो जाता है। इस शरीर में न जाने कितने रहस्य छिपे हुए हैं। वैज्ञानिकों ने, योगियों ने इसकी व्याख्या भी भिन्न-भिन्न ढंग से की है। दोनों दृष्टियों से शरीर की अपनी महत्ता है। शारीरिक विकास तब माना जा सकता है जब शरीर के सभी अंग समुचित ढंग से विकसित हों, स्वस्थ हों और सुचारू रूप से कार्य करें। यदि शरीर का कोई अंग अविकसित होता है अथवा अस्वस्थ होता है तो इससे व्यवहार भी प्रभावित होने लगता है। यह स्पष्ट है कि शरीर के विकास के अभाव में अन्य विकासों पर भी प्रभाव पड़ता है। जैसे मस्तिष्क का समुचित विकास न होने से बालक सीखने की प्रक्रिया में सफल नहीं हो सकता है। इसी प्रकार शरीर के अन्य अंगों पर भी यही बात लागू होती है। इसलिए शरीर के समुचित विकास की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यों तो कई अपवाद भी होते हैं, फिर भी शरीर के विकास के लिए प्रयत्न आवश्यक है। यह इसलिए आवश्यक है कि शरीर का समुचित विकास होने से ही व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है। स्वस्थ शरीर का प्रभाव मन तथा भावों पर भी पड़ता है। अत: व्यक्तित्व विकास के लिए शारीरिक विकास आवश्यक माना जाता है। शिक्षा के स्तर पर यह कार्य आवश्यक रूप से होना चाहिए। जीवन-विज्ञान की शिक्षा में शरीर के विकास हेतु योगासनों का विशेष प्रबंधन किया गया है। इन योगासनों से शरीर में लचीलापन आता है जिससे शरीर स्वस्थ बनता रहता है। शरीर के लचीलेपन से शरीर में रोगों का प्रवेश आसानी से नहीं हो सकता है। रक्त संचार समुचित मात्रा में होने से शरीर में विजातीय तत्त्वों का निरसन होता है। साथ ही योगासनों से नाड़ीतंत्र, ग्रंथितंत्र आदि प्रभावित होते हैं जो व्यवहार के लिए भी जिम्मेदार होते हैं। इसलिए जीवन विज्ञान की शिक्षा शारीरिक विकास पर ध्यान देती है।

2. मानसिक विकास—मन अमूर्त्त है, अदृश्य है अर्थात् मन को देखा नहीं जा सकता, स्पर्श नहीं किया जा सकता है अथवा सूंघा नहीं जा सकता है। फिर भी विद्वानों ने मन को इन्द्रिय के रूप में भी स्वीकार किया है। व्यवहारत: मन को व्यवहार के माध्यम से देखा जा सकता है। व्यक्ति के व्यवहार पर मन की छाप होती है। मन का कार्य है—स्मृति करना, चिन्तन करना और कल्पना करना। यह सत्य भी है कि सामान्य अवस्था में व्यक्ति इन तीनों अवस्थाओं में चक्कर लगाता रहता है। कभी भूतकाल की स्मृति, कभी वर्तमान में चिन्तन तथा कभी भविष्य की कल्पना। विकास के लिए ये तीनों ही स्तर उपयोगी माने गए हैं। साथ ही इस मन को समुचित प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। मन बहुत चंचल होता है। क्षण भर में न जाने कितनी ही दूरी की परिक्रमा कर लेता है। इसलिए यह शक्तिशाली भी है। आवश्यकता है इसे प्रशिक्षित करने की। मन के विकास के अभाव में मानसिक प्रक्रियाओं का सही-संपादन नहीं हो सकता है। मनोविज्ञान में मन के तीन स्तर माने गए हैं—चेतन, अवचेतन और अचेतन। चेतन मन स्पष्ट दिखता है। अवचेतन मन धुंधला दिखता है और अचेतन मन अदृश्य होता है। माना जाता है कि यही अचेतन मन व्यवहार के लिए उत्तरदायी है। इसमें न जाने कितने संस्कार छुपे हुए हैं। सामान्यत: व्यक्तित्व चेतन और अवचेतन दो ही अवस्थाओं को समझ पाता है। कभी चेतन-अवचेतन में बदल जाता है तो कभी अवचेतन चेतन मन में। इससे ही व्यक्तित्व के मानसिक पक्ष को स्पष्ट रूप से नहीं समझा जा सकता है और न समस्याओं का समाधान हो सकता है। मानसिक विकास के लिए मन के तीनों स्तरों को समझ कर उसे प्रशिक्षित करने की आवश्यकता होती है। अचेतन शक्तिशाली होता है। इसमें केवल दमित वासनाएँ ही नहीं, बुरे संस्कार ही नहीं वरन् अच्छे संस्कार भी होते हैं। यदि यह माना जाए कि केवल भीतर में बुराई ही है तो व्यवहार अच्छा कैसे हो जाएगा? व्यवहार में ऐसा नहीं होता है। अच्छाई भी होती है। इसलिए इन अच्छे संस्कारों को जागृत करने की आवश्यकता है और पुन: इसमें और नए संस्कारों को रोपने की आवश्यकता है। तभी व्यवहार का रूप और अच्छा हो सकता है। मन को प्रशिक्षित करने से मानसिक शक्तियों का विकास तो होता ही है, साथ ही इसके कार्यों को नियंत्रण में भी लाया जा सकता है। स्मृति, चिन्तन, कल्पना आवश्यक है तो इनकी अति सक्रियता हानिकारक भी है जिससे अनावश्यक शक्ति का व्यय होता है और विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है। अत: आवश्यकता पड़ने पर मन का उपयोग करने से विकास को नया आयाम मिलेगा। जीवन विज्ञान की शिक्षा में मन को नियंत्रित तथा प्रशिक्षित करने के लिए प्राणायाम तथा श्वास-प्रेक्षा के प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं। इनका प्रयोग मन की एकाग्रता तथा मानसिक शक्तियों के विकास में उपयोगी है।

3. बौद्धिक विकास—बुद्धि के अभाव में ज्ञान का समुचित विकास नहीं हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि बौद्धिक विकास भी आवश्यक है। यों तो व्यक्ति में बुद्धि का पूर्णत: अभाव नहीं देखा जा सकता है। हां! उसका स्तर भिन्न-भिन्न अवश्य ही होता है। बुद्धि का कार्य है तर्क-वितर्क करना, सही-गलत का निर्णय करना। इसी के कारण व्यक्ति संश्लेषण-विश्लेषण कर सकता है, नीतियों का निर्धारण कर सकता है। स्वयं तथा समाज के लिए उपयोगी-अनुपयोगी क्रियाओं में फर्क महसूस कर सकता है। साथ ही सही का चुनाव तथा गलत का त्याग कर सकता है। बौद्धिक विकास में शिक्षा संस्थानों का विशेष स्थान होता है। इन संस्थाओं में विशेष बल बौद्धिक विकास पर ही दिया जाता है। बुद्धि को ही प्रखर बनाने का प्रयास होता है। जीवन-विज्ञान शिक्षा में भी बौद्धिक विकास को महत्त्व दिया गया है। बुद्धि के समुचित विकास का प्रयास किया गया है। बुद्धि का अपना महत्त्व है तो इसके साथ दूसरे पक्षों को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। अत: बौद्धिक विकास जीवन-विज्ञान की शिक्षा का आवश्यक अंग है।

4. भावनात्मक विकास—व्यक्ति के भाव ही उसके व्यवहार को प्रभावित करते हैं। मनोविज्ञान में माना गया है कि व्यवहार का नियामक तत्त्व भाव है। भाव ही संवेग का रूप धारण करते हैं। अत: भाव संवेग की अव्यक्त दशा होती है। साधारणतया भीतर में उठने वाला कोई राग-द्वेषात्मक अनुभव या अनुभूति भाव की श्रेणी में आते हैं। ये ही भाव व्यवहार में उतारे जाते हैं तो संवेग कहलाते हैं। आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं मन के पीछे भी भाव होता है। भाव के अनुसार ही मानसिक स्थिति बनती है। इससे स्पष्ट है कि भाव को परिष्कृत करने से व्यवहार संबंधी अनेक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। भाव अशुद्धि के कारण ईर्ष्या, लोभ, द्वेष, कलह, क्रूरता जैसी समस्याएँ व्यक्ति के व्यवहार में प्रकट हो जाती हैं। ये समस्याएँ व्यक्ति को ही प्रभावित नहीं करती हैं वरन् समाज, समस्त प्राणी जगत् को प्रभावित करती हैं। भाव की अशुद्धि के कारण ही व्यक्ति स्वार्थ की पूर्ति हेतु दूसरों को नुकसान पहुंचाता है। यहां तक की प्रकृति को भी अपना शिकार बना डालता है। अत: भावनात्मक विकास शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य है। भाव शुद्धि के द्वारा ही जीवन में मूल्यों का विकास संभव होता है, अमन-चैन का वातावरण बना रहता है। जीवन-विज्ञान की शिक्षा में भाव शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। भाव के अशुद्ध होने से नाड़ी-तंत्र एवं ग्रंथि-तंत्र प्रभावित होते हैं। इन तंत्रों में असंतुलन से व्यवहार असंतुलित होता है। अत: आचार्य महाप्रज्ञ भावशुद्धि को विशेष महत्त्व देते हैं जिससे

व्यवहार पक्ष को शुद्ध बनाया जा सके। भाव शुद्धि के लिए ध्यान योग के प्रयोगों को महत्त्वपूर्ण माना गया है। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, लेश्याध्यान, भावना तथा अनुप्रेक्षाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सर्वांगीण विकास के लिए विभिन्न पक्षों का विकास आवश्यक है। केवल विकास ही नहीं वरन् संतुलन भी आवश्यक है। सबका अपना-अपना विशेष महत्त्व है। एक के अभाव में दूसरा पक्ष कमजोर बन जाता है। सभी पक्षों का एक-दूसरे से विशेष संबंध है। शरीर का विकास है तो मन का विकास भी हो सकता है, बुद्धि एवं भाव का विकास भी हो सकता है। केवल शारीरिक विकास ही पर्याप्त नहीं, मन का विकास भी आवश्यक है। इसी प्रकार केवल बुद्धि का विकास ही नहीं वरन् साथ में भावात्मक विकास भी आवश्यक है। कोरी बुद्धि भी समस्या का बहुत बड़ा कारण बन सकती है। उस बुद्धि को नियंत्रित करने के लिए सकारात्मक भावों के विकास की आवश्यकता होती है। भाव शुद्ध होने पर बुद्धि सही निर्णय ले सकेगी। इससे अनर्थ होने से बचा जा सकेगा।

बोध प्रश्न

1. शिक्षा जगत का प्रसिद्ध सूत्र क्या है?
2. सभी समस्याओं का मूल क्या है?
3. संवेदों का संबंध किससे है?
4 मन को किसके माध्यम से देखा जा सकता है?
5. व्यवहार का नियामक तत्त्व क्या है?

3.0 स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास

व्यक्तित्व का निर्माण करना शिक्षा का कार्य है। यह जीवन विकास के लिए आवश्यक है। यह विकास इतना कठिन कार्य नहीं होता है। कठिन कार्य है स्वतंत्र चेतना, स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण करना। व्यक्तित्व निर्माण भिन्न बात है और स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण भिन्न बात है। लौकिक विद्या अथवा प्रचलित शिक्षा व्यवस्था के द्वारा व्यक्तित्व विकास तो सम्भव है लेकिन स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास इसकी सीमा से परे है। स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण अध्यात्म विद्या का कार्य है।

स्वतंत्र व्यक्तित्व वह होता है, जो इन्द्रियों की मांग को अस्वीकार भी कर सके, विवेक कर सके, निर्णय कर सके कि अमुक मांग स्वीकार करने योग्य है अथवा नहीं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्वतंत्र व्यक्तित्व वह है जो विवेकपूर्वक इन्द्रियों की मांगों को स्वीकार-अस्वीकार कर सकता है अर्थात् विवेकपूर्ण निर्णय लेता है। यह स्पष्ट है कि इच्छाएँ अनंत होती हैं। इनकी पूर्ति संभव नहीं होती है। ये इच्छाएँ जब घनीभूत हो जाती हैं तो आवश्यकता बन जाती है। विद्वानों ने इन आवश्यकताओं को भी सीमा में बांध दिया—प्रमुख आवश्यकताएँ, गौण आवश्यकताएँ आदि-आदि। यदि व्यक्ति में विवेक होता है तो वह आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति पहले करता है और फिर दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति बाद में करता है। भीतर से मांग की सीमा नहीं होती है। यदि इस पर विवेक का नियंत्रण हो तो समस्याएँ पैदा नहीं होती हैं। जब तक व्यक्तित्व इन मांगों का दास होता है, वह किसी-न-किसी प्रकार से इनकी पूर्ति में ही अपनी शक्ति का व्यय करता है। इनकी पूर्ति न होने पर व्यक्ति मानसिक व्याधियों से ग्रसित हो जाता है। अत: यह स्वतंत्र व्यक्तित्व के द्वारा इन समस्याओं का समाधान सरल हो जाता है। अत: यह विवेक की शक्ति ही स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण है। जीवन विज्ञान की शिक्षा के अन्तर्गत इस स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए निर्माण के लिए निम्न प्रयोग उपयोगी माने गए हैं—

1. प्राण शक्ति का विकास

प्राण जीवनी शक्ति है। प्राण के बिना जीवन का अस्तित्व ही संभव नहीं है। अत: प्राण का महत्त्व स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है। प्राण-शक्ति के विकास के अभाव में दूसरे विकास कठिन कार्य हो जाते हैं। अपने जीवन में न जाने व्यक्ति को कितने कार्य करने पड़ते हैं, कितना संघर्ष करना पड़ता है। इसके लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्ति तब मिलेगी जब प्राण तत्त्व शक्तिशाली होगा। स्वतंत्र व्यक्तित्व आसान कार्य नहीं है। इसके लिए भी व्यक्ति को संघर्ष करना पड़ता है। अत: प्राणशक्ति का विकास आवश्यक हो जाता है। इसके लिए आवश्यक है—दीर्घश्वास प्रेक्षा, पूरे श्वास का प्रयोग। इससे अधिक से अधिक ऑक्सीजन अथवा प्राणशक्ति शरीर को मिलती है तथा दूषित वायु बाहर निकलती है। संकल्प के साथ पूरे शरीर से श्वास लेना भी प्राणशक्ति

को शक्तिशाली बनाता है। संकल्प के साथ यह अनुभव करना कि पूरा शरीर, शरीर की प्रत्येक कोशिका श्वास ले रही है। इससे पूरे शरीर में संवेदनशीलता जागेगी और पूरा शरीर प्राण से ओत-प्रोत हो जाएगा। प्राण केन्द्र प्रेक्षा अर्थात् नासाग्र पर ध्यान करने से भी प्राणशक्ति का विकास होता है। प्राणशक्ति हमारी मूल शक्ति है। अत: इसका विकास जीवन के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

2. अन्तर्दृष्टि का विकास

शक्ति का अपना महत्त्व होता है। शक्ति अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी हो सकती है। अच्छे-बुरे का भेद करना अन्तर्दृष्टि का काम है। जिसकी यह दृष्टि विकसित हो जाती है वह शक्ति का दुरुपयोग नहीं कर सकता है। जिसके पास यह दृष्टि नहीं होती है, वह शक्ति को सही दिशा नहीं दे सकता है। कोरा प्राणशक्ति का विकास अलग बात है और उसे सही दिशा में संचालित करना दूसरी बात है। अन्तर्दृष्टि का विकास मन और बुद्धि की सीमा से परे है। जहां मन, बुद्धि एवं विवेक की सीमा समाप्त हो जाती है, उससे परे की सीमा है अन्तर्दृष्टि का विकास। जिसकी अन्तर्दृष्टि जाग जाती है उसका चिन्तन, विचार एवं निर्णय शक्ति—ये सभी अलौकिक हो जाते हैं। अन्तर्दृष्टि के अभाव में व्यक्तित्व भी स्वतंत्र नहीं हो सकता है। वह दूसरो के इशारों पर ही खेलता है अर्थात् वह अपनी स्वतंत्र चेतना का उपयोग नहीं कर पाता है। इसलिए स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए अन्तर्दृष्टि का विकास बहुत आवश्यक माना गया है। दर्शन केन्द्र (दोनों भृकुटियों के बीच का स्थान) पर ध्यान करने से अन्तर्दृष्टि का विकास हो सकता है। निरन्तर अभ्यास से ही यह कार्य संभव हो सकता है।

3. अनुशासन का विकास

अनुशासन के लिए आवश्यक है—शारीरिक अनुशासन। इसके अभाव में अन्य अनुशासन संभव नहीं है। शरीर में एक प्रकार का अनुशासन होता है। सारे तंत्र एक-दूसरे से संबंधित होते हैं और सभी अपना कार्य सुचारू रूप से करते हैं तो समस्या नहीं होती है। यदि एक तंत्र भी असंतुलित हो जाता है तो इसका प्रभाव मन तथा भावों पर भी पड़ता है। हमारे शरीर में नियंत्रण का प्रमुख केन्द्र मस्तिष्क है जो पूरे शरीर की गतिविधियों को नियंत्रण करता है। इस नियंत्रण केन्द्र को साधने का अर्थ है—अनुशासन का विकास। यदि मस्तिष्क को साध लिया जाए तो अनुशासन की समस्या नहीं हो सकती है। अत: जीवन विज्ञान की शिक्षा में अनुशासन के विकास को भी महत्त्व दिया गया है। तभी स्वतंत्र चेतना का जागरण हो सकता है। इसके लिए प्रयोग है ज्योति-केन्द्र (ललाट का मध्य भाग) पर ध्यान करना। यह केन्द्र सारी आचारात्मक प्रवृत्तियों का नियंत्रण करता है। अत: ज्योति-केन्द्र प्रेक्षा अनुशासन के विकास में सहयोगी होकर स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण करने में सहायक हो सकेगी।

इस प्रकार स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण करना विद्यार्थी जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। शिक्षा में इस प्रकार की व्यवस्था होने से शिक्षा जगत् की एक नहीं वरन् अनेक समस्याओं का समाधान सरलता पूर्वक हो सकता है। अत: स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण व्यक्तित्व विकास का अभिन्न पक्ष है। इसके लिए प्रयास तथा क्रियान्विति करवाना शिक्षा जगत् का कार्य है।

4.0 शिक्षा और भावात्मक परिवर्तन

भाव परिवर्तन का तात्पर्य है—भाव-शुद्धि। शिक्षा कार्य है वह विद्यार्थी के भावों के परिवर्तन के लिए प्रयास करें। भावात्मक विकास के बिना व्यक्तित्व का विकास भी संभव नहीं हो सकता है। भाव-परिवर्तन में उन भावों को परिवर्तन करना है जिनके द्वारा व्यक्तित्व विघटित होता है, जिनके द्वारा सामाजिक जीवन प्रभावित होता है। समाज में अपराधों का कारण भावात्मक परिवर्तन का न होना है। यदि भावों को सकारात्मक दिशा में मोड़ दिया जाए तो सामाजिक समस्याओं से मुक्ति पाई जा सकती है। भाव शुद्धि से विद्यार्थी अपनी शक्ति का समुचित उपयोग कर सकेगा अन्यथा निषेधात्मक भावों के द्वारा शक्ति क्षीण होगी। विद्यार्थी शक्ति सम्पन्न बने, परिष्कृत भावों से सम्पन्न बने—इसका प्रयास आवश्यक है।

ऐसा नहीं है कि व्यक्ति शुद्ध भाव नहीं चाहता है। वह चाहता है कि शुद्ध भाव बना रहे, अशुद्ध भाव न आए। फिर यही देखा जाता है कि अशुद्ध भाव अधिक रहता है, शुद्ध भाव कम रहता है। इसी अशुद्ध भावधारा ने, इसी बुरी धारा के कारण शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित होता है। भाव शुद्धि होने पर विधायक भावधारा प्रवाहित होने से शरीर तथा मन संबंधी समस्याओं का समाधन प्राप्त हो जाता है। भाव शुद्धि से व्यक्तित्व रूपांतरित तो होने ही लगता है, साथ ही समाज का रूपान्तरण होने लगता है। प्राय: देखा जाता है कि व्यक्ति ऊपरी तौर पर समस्याओं का समाधान खोजता है। मूल की ओर ध्यान नहीं देता है। इसका यही परिणाम होता है कि वह समस्या समाप्त नहीं हो पाती है। भाव शुद्धि से समस्या को मूलत: मिटाने की

शक्ति प्राप्त होती है। भाव शुद्धि में सहयोगी बनता है—ध्यान। इसमें भावना का साक्षात्कार होता है, अनुभव होता है। इससे स्वत: ही चेतना का शुद्धीकरण होने लगता है। भावना चेतना का रूप है। अत: ध्यान के द्वारा भाव शुद्धि का कार्य आसानी से हो सकता है। इसलिए शिक्षा में भावात्मक परिवर्तन भी जुड़े। भाव शुद्धि का विकास क्रम जीवन विज्ञान की शिक्षा का आवश्यक अंग है। विद्यार्थी को बचपन से यह प्रशिक्षण दिए जाने से उसके भीतर शुद्ध भावों के संस्कारों का रोपण हो सकेगा। वे भाव समय आने पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हो सकेंगे।

4.1 विधायक भाव और आनंद

विधायक भाव का अर्थ है अच्छे भाव, सकारात्मक भाव। ये भाव ही जीवन में मुख्य एवं आनंद की प्राप्ति करवाने में सहायक होते हैं। इनके अभाव में जीवन दु:खों का सागर बन जाता है। प्राय: अनुभव किया जाता है कि भोजन से भूख मिटती है, पानी से प्यास बुझती है। यह सत्य भी है लेकिन यह भी आवश्यक नहीं है कि भूख मिटने, प्यास बुझने से सुख का अनुभव ही हो। कहने का तात्पर्य है कि पदार्थ का उपयोग करना भिन्न बात है और पदार्थ के उपभोग के बाद सुख की प्राप्ति होना भिन्न बात है। उपभोग और सुख का कोई अनुबंध नहीं है। अर्थात् ये दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं। उपभोग से सुख की अनुभूति तब होती है जब भाव विधायक हो। अत: कहा जा सकता है कि विधायक भाव होने से सुख की अनुभूति होती है और निषेधात्मक भाव होने से दु:ख की अनुभूति होती है। प्रेम, करुणा, मैत्री, परोपकार आदि विधायक भाव हैं। इसलिए सुख है और क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, क्रूरता आदि निषेधात्मक भाव हैं। इसलिए दु:ख है। इसका कारण है कि विधायक भाव अच्छे हैं और निषेधात्मक बुरे हैं। आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं कि वह समाज और व्यक्ति विकासशील बनता है जिसे विधायक भाव उपलब्ध हैं। जिसमें निषेधात्मक भाव हैं वह समाज या व्यक्ति कभी विकास नहीं कर सकता। उसमें सदा निराशा बनी रहती है। वैसे व्यक्ति उदासी, निराशा और बेचैनी से ग्रस्त होते हैं। व्यक्ति प्रत्येक बात में कमी निकालेंगे, बुराई खोजेंगे। इसके विपरीत विधायक भावों की प्रबलता से जीवन में आनन्द ही आनन्द होता है, सुख ही सुख होता है। अत: विद्यार्थी जीवन में विधायक भावों का विकास आवश्यक माना जाता है। विद्यार्थी जब विधायक भावों को पकड़ लेते हैं तो उनके संस्कार अच्छे बनने में देर नहीं लगती है। विधायक भावों के विकास होने पर शिक्षा जगत् की अनेक समस्याओं का समाधान स्वत: होने लगेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि विधायक भाव वास्तव में सुख का साधन हैं। व्यक्ति अपने जीवन में सुख की कामना करता है। यदि वह अपने भावों को विधायक बना ले तो सुख स्वत: प्राप्त होने लगेगा। जीवन विज्ञान की शिक्षा में ध्यान के प्रयोगों के द्वारा यह कार्य सरल हो जाता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व विकास के लिए कई महत्त्वपूर्ण आयामों से गुजरना आवश्यक होता है तभी सफलता का वरण होता है। जीवन विज्ञान के संदर्भ में व्यक्तित्व विकास ध्यान-योग के प्रयोगों पर आधारित है। इन प्रयोगों का भाव-परिष्कार में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। सारा व्यवहार भावों का पर ही निर्भर है। कहा भी गया है कि जैसा भाव वैसा स्राव, जैसा स्राव वैसा प्रभाव और वैसा ही व्यवहार। अर्थात् भाव के अनुरूप ही ग्रंथियों का स्राव होता है। स्राव के अनुरूप ही शरीर, मन पर प्रभाव पड़ता है और वैसा ही व्यवहार होता है। इसलिए भाव शुद्धि जीवन विज्ञान की शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है।

5.0 संवेग-संवेद नियंत्रण की पद्धति

जीवन विज्ञान की शिक्षा संवेग और संवेद नियंत्रण की शिक्षा पद्धति है। आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं कि शिक्षा का काम है कि वह प्रत्येक मनुष्य में विवेक चेतना को जगाए। इससे संवेग नियंत्रण और संवेदनाओं तथा आवेगों पर नियंत्रण करने की क्षमता पैदा हो जाएगी। यह स्पष्ट है कि जब तक व्यक्ति के जीवन में संवेग-संवेद प्रबल होते हैं तब व्यक्ति की शक्ति का अपव्यय होने लगता है। शक्ति के व्यय से जीवन स्वत: ही हताश तथा निराश बन जाता है। अत: शिक्षा के द्वारा इस समस्या का समाधान होना चाहिए। जीवन विज्ञान के सन्दर्भ में इन्हें भिन्न-भिन्न तरह से समझना आवश्यक है।

(क) संवेग-नियंत्रण की पद्धति

संवेग व्यक्ति के जीवन को बहुत प्रभावित करते हैं। इसलिए उन पर नियंत्रण करना व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक समझा जाता है। विद्यार्थी जीवन में इनकी जटिल समस्या संक्रमण काल में मानी जाती है। वह समय होता है दो अवस्थाओं का संधिकाल। 8-9, 11-12 तथा 17-18 वर्ष की आयु में जीवन में शारीरिक परिवर्तन के साथ ही संवेगों की प्रबलता भी पाई जाती है। इस समय यदि सही प्रशिक्षण मिल जाए तो विद्यार्थी अपने जीवन में संतुलित संवेगों वाला बन जाएगा। संतुलित संवेग नाड़ी-तंत्र और ग्रंथि को प्रभावित करते हैं। इन दोनों तंत्रों का संतुलन बना रहने से जीवन में भी संतुलन बना रहता है। इसके अतिरिक्त असंतुलित

संवेग वाला विद्यार्थी चिड़चिड़ापन, निराशा लिए हुए होता है। इतना ही नहीं असंतुलित संवेगों के कारण विद्यार्थी में जटिल आदतों का निर्माण होने लगता है और वह बुरे कार्यों में फंस जाता है। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में इन संवेगों पर ध्यान देना आवश्यक समझा जाता है जिससे विद्यार्थी जटिल आदतों वाला न बने तथा वह विकारों में न फंसे। शिक्षा के द्वारा अक्षर बोध ही नहीं वरन् जीवन निर्माण का बोध भी होना चाहिए क्योंकि जीवन-निर्माण का ज्ञान कराना भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है। अत: संवेगों का परिष्कार इसलिए आवश्यक है कि यदि विद्यार्थी अपने जीवन में असंतुलित संवेग वाला बन जाएगा तो वह स्वयं के लिए ही नहीं वरन् समाज के लिए सिर-दर्द बन जाएगा। अत: इस समस्या को शिक्षा के द्वारा मिटाया जाना चाहिए।

संवेग परिष्कार के जीवन-विज्ञान शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत निम्न उपाय हैं—

1. मूल्य-बोध—जीवन विज्ञान शिक्षा पद्धति में 16 जीवन मूल्यों का निर्धारण किया गया है। इन मूल्यों के द्वारा विद्यार्थी के समक्ष एक आदर्श उपस्थित किया जा सकता है। जब तक मूल्य बोध नहीं होगा तब तक व्यवहार परिवर्तन की बात भी सामने नहीं आती है। इसलिए विद्यार्थी के समक्ष मूल्यों का आदर्श होता तो वह व्यावहारिक स्तर पर अपने जीवन में स्थान देगा। प्रयोग करने से पूर्व आवश्यक है उसकी सैद्धान्तिक जानकारी। इसी से ज्ञात होगा कि मूल्य क्या है, क्यों आवश्यक हैं आदि-आदि। अत: सैद्धान्तिक ज्ञान अथवा मूल्य-बोध आवश्यक है।

2. पीनियल ग्रंथि का परिष्कार—पीनियल ग्रंथि का स्थान ललाट के मध्य भाग में होता है। यही स्थान ज्योति-केन्द्र का भी है। अत: ज्योति-केन्द्र प्रेक्षा और शांति-केन्द्र प्रेक्षा के प्रयोग से संवेगों पर अनुशासन किया जा सकता है। यदि विद्यार्थी जीवन में 10-12 वर्ष की अवस्था से ही इन प्रयोगों को करवाया जाए तो विद्यार्थी के संवेगों में संतुलन होगा और वह व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन सुखपूर्वक जी सकेगा। अत: संवेग परिष्कार के लिए ये दोनों प्रयोग बहुत उपयोगी माने गए हैं।

3. रंगों का ध्यान—संवेग परिष्कार में रंगों का ध्यान बहुत उपयोगी माना गया है। चंचलता को कम करने के लिए नीले रंग का ध्यान और उद्दण्डता को कम करने के लिए गुलाबी रंग का ध्यान उपयोगी होता है। इसी प्रकार आलस्य को मिटाने के लिए पीले रंग को उपयोगी माना गया है। अत: रंगों के ध्यान के द्वारा विद्यार्थी के संवेगों को संतुलित किया जा सकता है।

4. विधायक दृष्टिकोण—जहां निषेधात्मक दृष्टिकोण भावों को उद्दीप्त करता है, वहीं विधायक दृष्टिकोण भावों का शमन करता है, उन्हें नियंत्रित करता है, परिष्कृत करता है। अत: शिक्षा के द्वारा ऐसा प्रयास होना चाहिए कि उसमें रचनात्मकता के भाव का विकास हो, विधायक भावों का विकास हो, क्योंकि विधायक भाव जीवन में प्रसन्नता लाते हैं, सुख प्रदान करते हैं। इसलिए ऐसे भावों के द्वारा व्यक्ति अपनी समस्याओं का समाधान भी स्वयं ही कर सकता है।

(ख) संवेद नियंत्रण की पद्धति

संवेदों का नियंत्रण भी जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है। इन्द्रिय संवेदनाओं पर नियंत्रण न होने से बहुत बुरे परिणामों का सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए जीभ की संवेदनाओं पर नियंत्रण न होने से लगभग 50 प्रतिशत बीमारियां होती हैं। इसका कारण है कि जीभ जितनी ज्यादा सक्रिय होगी, वह उतनी ही स्वादलोलुप होगी। इसी कारण खाने का संयम नहीं रख पाने के लिए व्यक्ति बीमार पड़ जाता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों की सक्रियता भी हानिकारक सिद्ध होती है। अत: जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए संवेदनाओं पर नियंत्रण बहुत उपयोगी होता है। संवेदना का दास व्यक्ति अपने जीवन की दुर्गति कर बैठता है। अत: इन्द्रिय संवेदनों पर नियंत्रण करना जीवन विज्ञान की शिक्षा का कार्य है। इसके अन्तर्गत निम्न उपाय बताये गए हैं—

1. परिणाम बोध—इन्द्रिय संवेदनाओं का परिणाम अच्छा नहीं माना गया है। यदि इसका ज्ञान विद्यार्थी को करा दिया जाए तो वह अपनी आदतों में सुधार के लिए प्रेरित हो सकता है। छोटे विद्यार्थी को अच्छे-बुरे का इतना ज्ञान भी नहीं होता है। उसे जो प्रिय लगता है, वही उसके लिए अच्छा हो जाता है। उसे यह ज्ञात नहीं होता है कि हर अच्छी वस्तु वास्तव में हर दृष्टि से अच्छी ही होती है। अच्छी दिखने वाली वस्तु परिणाम में बुरी भी हो सकती है। अत: विद्यार्थी को यथार्थ बोध कराया जाना चाहिए।

2. श्वास-नियंत्रण—श्वास-नियंत्रण दीर्घश्वास का प्रयोग है। इसके द्वारा विद्यार्थी मस्तिष्क को अधिक ऑक्सीजन की आपूर्ति हो सकती है। शरीर की तुलना में मस्तिष्क को अधिक ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। अत: दीर्घश्वास के द्वारा मस्तिष्क की सक्रियता बढ़ने से वह तीव्र विकास कर पाएगा। दूसरी ओर दीर्घश्वास से अपान वायु पर नियंत्रण साधा जा सकता

है जिससे विद्यार्थी कई बुरी आदतों से बच सकता है। दीर्घश्वास की प्रक्रिया कुछ समय पर्यन्त तक ही सीमित नहीं है वरन् यह बुरे विचार, बुरी वृत्तियों, वासनाओं आदि के सक्रिय होने पर भी इसका प्रयोग लाभकारी होता है।

3. प्राण केन्द्र प्रेक्षा—प्राण केन्द्र का संबंध नासाग्र से है। नाक का वासनाओं के साथ गहरा संबंध माना गया है। मस्तिष्क का एक भाग एनिमल ब्रेन है। इसी कारण व्यवहार में पशुता की वृत्ति उभरती है। उसका संबंध नाक और इन्द्रियों के साथ होता है। अत: नासाग्र पर ध्यान करने से संवेदनाओं पर नियंत्रण पाया जा सकता है।

बोध प्रश्न

1. स्वतंत्र व्यक्तित्व क्या है?
2. जीवनी शक्ति क्या है?
3. आत्मानुशासन के लिए क्या आवश्यक है?
4. पीनियल ग्रंथि का स्थान कहां है?
5. प्राण केन्द्र का सबंध किससे है?

7.0 मस्तिष्क नियंत्रण की पद्धति

विकास का आधार होता है—मस्तिष्क। इसके अभाव में व्यक्ति बोध ही नहीं कर सकता है और बोध के अभाव में विकास भी संभव नहीं होता है। व्यवहार और बुद्धि का नियंत्रण मस्तिष्क के द्वारा ही होता है। मस्तिष्क के दो पटल हैं—दायां और बायां। बाएं का कार्य है—तर्क, गणित आदि तथा दाएं का कार्य है—अंत:प्रज्ञा, आध्यात्मिक चेतना, आन्तरिक प्रेरणा आदि। जब दोनों पटलों का संतुलन बना रहता है तब समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता है। यदि एक पटल अधिक सक्रिय हो और दूसरा निष्क्रिय रहता है तो समस्या का समाधान कभी नहीं हो सकता है। समाज में ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जो समस्याओं का समाधान कर सकें। जीवन विज्ञान शिक्षा प्रणाली का आधारभूत तत्त्व यह है कि मस्तिष्क का संतुलन केवल बौद्धिक क्षमता से नहीं हो सकता है, केवल बुद्धि से नहीं हो सकता है। उसके लिए आवश्यक है आध्यात्मिक चेतना की, चरित्र की। यह कार्य दाएं पटल की सक्रियता के बिना नहीं हो सकता है। व्यक्ति के चरित्र का केन्द्र है—हाइपोथेलेमस। यह मस्तिष्क का एक भाग है। अत: मस्तिष्क के उन सभी केन्द्रों को एक साथ सक्रिय करने की आवश्यकता होती है, जो वास्तविक मूल्यों के मूल स्रोत हैं। इन स्रोतों को प्रशिक्षित करना प्रयोगात्मक पक्ष है। निष्क्रिय को सक्रिय तथा सक्रिय को निष्क्रिय करने का कार्य प्रयोगों का होता है। प्रयोगों में मुख्य हैं—

1. तनावमुक्ति—विद्यार्थी की ग्रहणशीलता तब बढ़ती है, जब वह तनावों से मुक्त होता है। यह तनाव शरीर का हो सकता है, मन का हो सकता है, भावों का हो सकता है। कायोत्सर्ग के प्रयोग से ये सभी तनाव दूर होते हैं। इस अवस्था में ग्रहण करने की क्षमता बढ़ जाती है। यदि विद्यार्थी तनाव से भरा रहता है तो वह कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकता है। अत: कायोत्सर्ग का प्रयोग तनावमुक्ति के लिए बहुत उपयोगी प्रयोग है।

2. श्वासप्रेक्षा (लयबद्ध श्वास)—श्वासप्रेक्षा अथवा लयबद्ध श्वास के द्वारा मस्तिष्क को संतुलित किया जा सकता है। प्राणायाम मस्तिष्कीय विकास के लिए अनिवार्य प्रक्रिया है। इसके द्वारा मस्तिष्कीय संतुलन को बढ़ाया जा सकता है। लयबद्ध श्वास से मस्तिष्क की सुप्त शक्तियां जागती हैं। सारा तंत्र उससे प्रभावित होता है अत: श्वासप्रेक्षा (लयबद्ध श्वास) के द्वारा मस्तिष्क पटलों के कार्यों को संतुलित किया जा सकता है।

जीवन विज्ञान केवल सैद्धान्तिक नहीं प्रयोगात्मक पद्धति भी है। इसके द्वारा विद्यार्थी में बौद्धिक विकास, स्मृति का विकास और भावनात्मक विकास होता है। इसका मौलिक सूत्र है बौद्धिक और भावनात्मक विकास का संतुलन। इस संतुलन के स्थापित होने से शिक्षा जगत् की अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है।

सारांश

जीवन विज्ञान व्यक्तित्व विकास की पद्धति है। इसमें व्यक्तित्व विकास हेतु अनेक पक्षों को स्पष्ट किया गया है।

1. शिक्षा और मुक्ति की अवधारणा—आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने मुक्ति की अवधारणा को निम्न संदर्भों में स्पष्ट किया

है—अज्ञानता से मुक्ति, संवेगों के अतिरेक से मुक्ति, संवेदों के अतिरेक से मुक्ति, धारणा और संस्कार से मुक्ति तथा निषेधात्मक विचारों से मुक्ति।

2. सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास—सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास वह होता है जिसमें शारीरिक विकास, मानसिक विकास, बौद्धिक विकास एवं भावनात्मक विकास सम्मिलित हो।

3. स्वतंत्र व्यक्तित्व विकास—स्वतंत्र व्यक्तित्व वह है जिसमें विवेक के आधार पर निर्णय लिया जाता है। कोई भी मांग स्वीकार करने योग्य है अथवा नहीं—इसका विवेकपूर्वक निर्णय लिया जाता है।

4. शिक्षा और भावात्मक पक्ष—भाव ही व्यवहार का आधार बनता है, अत: जीवन विज्ञान की शिक्षा निषेधात्मक भावों का परिष्कार कर सकारात्मक भावों का प्रशिक्षण देती है।

5. संवेग-संवेद नियंत्रण की पद्धति—जीवन विज्ञान संवेग-संवेद नियंत्रण की प्रवृत्ति है। नकारात्मक संवेगों के स्थान पर सकारात्मक संवेगों का विकास तथा इन्द्रिय संवेदनाओं को परिष्कृत करना आवश्यक समझा जाता है। अत: इसकी व्यवस्था जीवन विज्ञान की शिक्षा में की गई है।

6. मस्तिष्कीय प्रशिक्षण की पद्धति—मस्तिष्क के दाएं और बाएं पटलों में संतुलन स्थापित करना तथा मस्तिष्क के उन केन्द्रों को प्रभावित करना जो उच्च शक्तियों के लिए जिम्मेदार हैं।

प्रश्नावली

1. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. शिक्षा में मुक्ति की अवधारणा को स्पश्ट कीजिए।
2. स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास को समझाइए।

2. निबंधात्मक प्रश्न

1. भावात्मक परिवर्तन तथा मस्तिष्क नियंत्रण पद्धति के समझाइए।

पाठ–6– स्वस्थ समाज संरचना का संकल्प

रूपरेखा

1.0 स्वस्थ समाज रचना का संकल्प

1.1 अहिंसा

1.2 सत्य

1.3 अपरिग्रह

2.0 शिक्षा और नैतिकता

2.1 उपाय और अभ्यास

2.2 शारीरिक अनुशासन

3.0 व्यक्ति का सामाजीकरण

3.1 परस्परता की चेतना का विकास

3.2 संवेदनशीलता का विकास

3.3 स्वामित्व के सीमाकरण की चेतना का विकास

4.0 सारांश

उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. स्वस्थ समाज संरचना को समझ सकते हैं,
2. स्वस्थ समाज संरचना हेतु आवश्यक मूल्यों को समझ सकते हैं,
3. शिक्षा और नैतिकता को समझ सकते हैं,
4. व्यक्ति के सामाजीकरण को समझ सकते हैं।

भूमिका

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर ही वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। वे आवश्यकताएँ चाहे शारीरिक हों अथवा मानसिक अथवा सामाजिक। अपनी इन आवश्यकताओं की पूर्ति से ही व्यक्ति अपने विकास के क्रम को आगे बढ़ाता है। इसीलिए कहा गया है कि व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध है। अर्थात् व्यक्ति और समाज एक–दूसरे पर परस्पर निर्भर रहते हैं। व्यक्ति और समाज के इसी संबंध के कारण ही दोनों एक–दूसरे से प्रभावित होते हैं। व्यक्ति का प्रभाव समाज पर पड़ता है तो समाज का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। अत: मूल्यों से परिपूर्ण व्यक्तित्व के लिए आवश्यकता होती है स्वस्थ सामाजिक वातावरण की। स्वस्थ सामाजिक वातावरण तब बन सकता है जब समाज में मूल्यों की प्रतिष्ठा हो। तभी एक–दूसरे के हितों की रक्षा हो सकेगी और सामाजिक जीवन सुखपूर्वक रह सकेगा।

1.0 स्वस्थ समाज संरचना का संकल्प

यह स्पष्ट है कि मूल्यों के द्वारा ही सवस्थ समाज की रचना हो सकती है। यदि स्वस्थ समाज रचना का संकल्प हो तो वास्तव में सामाजिक बुराइयों को खत्म किया जा सकता है। केवल कहने मात्र से यह कार्य संभव नहीं है, क्रियान्विति आवश्यक

है। यदि सत् संकल्प हो तो मंजिल भी प्राप्त हो जाती है। स्वस्थ समाज की रचना के लिए कुछ मूल्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यदि इनका पालन किया जाये तो समाज की दशा तथा दिशा दोनों ही बदल सकते हैं।

स्वस्थ समाज वह होता है जिसमें मूल्यों की प्रतिष्ठा होती है तथा रुग्ण समाज वह होता है जहां मूल्यों का ह्रास होता है। यह स्पष्ट है कि मूल्यों की प्रतिष्ठा के द्वारा ही व्यक्ति तथा समाज का विकास संभव होता है। करुणा, परोपकार, प्रामाणिकता, अहिंसा आदि महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं जो समाज के लिए आवश्यक हैं। जीवन में कुछेक मूल्यों का विकास हो जाने से भी उसके सहयोगी मूल्य स्वत: आ जाते हैं। जैसे—अहिंसा का मूल्य विकसित होने से करुणा, मैत्री का भाव पैदा हो जाता है। कहने का तात्पर्य है—मूल्यों का अपना परिवार होता है। एक-दो मूल्यों की स्थापना होने से कई मूल्य स्वयं प्रतिष्ठित हो जाते हैं। अत: स्वस्थ समाज संरचना के लिए भी मुख्यतया तीन मूल्य महत्त्वपूर्ण माने गए हैं—अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह।

1.1 अहिंसा

अहिंसा का अर्थ है—हिंसा न करना। हिंसा कष्ट है, पीड़ा है। इसलिए त्याज्य है। सामान्यतया अहिंसा का अर्थ है—मन, वचन तथा कर्म से किसी को कष्ट न देना। इसे यदि और अधिक व्यापक शब्दों में कहा जाए तो न हिंसा करना, न करवाना और न ही हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना। इस प्रकार देखा जा सकता है कि अहिंसा शब्द अपने व्यापक अर्थ को लिये हुए है। इसीलिए इस शब्द की प्रासंगिकता अथवा उपयोगिता भी उतनी ही अधिक है। यह तो सत्य ही है कि **प्रत्येक प्राणी अपने प्रति कष्ट या पीड़ा नहीं चाहता है क्योंकि इससे उसे दु:ख होता है। दु:ख प्राणी द्वारो त्याज्य होता है। अत: केवल कष्ट न चाहना ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ ऐसी चेतना भी आवश्यक है कि दूसरे को भी कष्ट न दें। यदि परस्पर ऐसी चेतना का विकास हो जाए तो वास्तव में समाज की स्थिति, यहां तक की ब्रह्माण्ड की स्थिति को सुधारा जा सकता है।**

अहिंसा के बिना समाज का निर्माण नहीं हो सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि हिंसा स्वाभाविक या नैसर्गिक मांग नहीं है। वह एक अस्वाभाविक परिस्थिति है। हम कुछ कारणों से प्रभावित होकर उस दिशा में चले जाते हैं। यह बात समझ में आनी चाहिए कि समाज का मूल्य अहिंसा ही हो सकता है और इसी आधार पर समाज बना है। वह नहीं होता तो समाज नहीं बनता। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को खाने और काटने को तैयार रहता किन्तु सबसे पहले समझौता यही हुआ कि भई तुम भी अपनी सीमा में रहो और मैं भी अपनी सीमा में रहूं। हम दोनों साथ-साथ जीएँ, समाज बनकर जीएँ।

अत: इस समझौते के सिद्धान्त में ही सुख निहित है। व्यक्ति-व्यक्ति का सुख निहित है। इसलिए सभी अपनी सीमा में रहकर ही सुख का अनुभव कर सकते हैं और दूसरों को सुख दे सकते हैं। अहिंसा के विकास के लिए निम्न बातें आवश्यक हैं—

1.1.1 भावना का परिवर्तन—हिंसा-अहिंसा का भाव कहीं बाहर से नहीं आता है। वह होता है—भीतर में, भावों में। जब तक व्यक्ति एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता तब तक अहिंसा की भावना नहीं आ सकती है। यदि यह भावना विकसित हो जाती है कि सब जीव समान हैं, सबकी आत्मा समान है, सबको सुख-दु:ख का अनुभव होता है तब अहिंसा की चेतना विकसित हो सकती है। व्यक्ति अपने तुच्छ स्वार्थों के कारण ही हिंसा करता है। यदि व्यक्ति-व्यक्ति की एकता में विश्वास करे तो क्रूरता की भावना, हिंसा की भावना को खत्म किया जा सकता है। इसलिए भावना परिवर्तन अर्थात् सकारात्मक भावना के द्वारा अहिंसा की चेतना को विकसित किया जा सकता है।

1.1.2 मैत्री का विकास—हिंसा का कारण है—घृणा। अत: इस घृणा के स्थान पर मैत्री को उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। यदि वास्तव में एक-दूसरे के प्रति मैत्री का भाव जाग जाए तो कोई किसी को सता नहीं सकेगा। उदाहरण के लिए चोर, लुटेरे, व्यापारी आदि अपने परिवार के साथ प्रेम के कारण ही कष्ट नहीं देते हैं। चोर अपने परिवार में चोरी नहीं करता है, व्यापारी अपने परिवार में मिलावटी सामान नहीं देता है। इसका स्पष्ट कारण है कि परिवार के प्रति घृणा नहीं है, स्वार्थ सिद्ध करने का भाव नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि चोर, लुटेरे आदि में भी प्रेम की भावना है, करुणा की भावना है, दया की भावना है। आवश्यकता है शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी के जीवन में संवेदनशीलता, प्रेम, मैत्री, करुणा जैसे मूल्यों का विकास आवश्यक रूप से हो। मस्तिष्क में क्रूरता के केन्द्र हैं तो करुणा के भी केन्द्र हैं, मैत्री केन्द्र हैं। अत: करुणा, मैत्री जैसे केन्द्रों को जागृत करने की आवश्यकता है। ज्योति-केन्द्र पर ध्यान करने से प्रेम, मैत्री एवं संवेदनशीलता का विकास होता है।

1.1.3 कष्ट सहिष्णुता—व्यक्ति के समक्ष दो मार्ग होते हैं—सुविधा का मार्ग और कष्ट सहिष्णुता का मार्ग। व्यक्ति सुविध

ाा को पसंद करता है, कष्ट नहीं क्योंकि व्यक्ति का दृष्टिकोण सुविधावादी होता है तो वह कष्ट को सहन नहीं कर सकता है। गर्मी, सर्दी, भूख-प्यास आदि अनेक परिस्थितियों से व्यक्ति गुजरता है। जिस व्यक्ति में कष्ट को, दु:ख को सहन करने की शक्ति होती है, वह व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में संतुलन भी बनाए रख सकता है। यदि हिंसा के सन्दर्भ में बात की जाए तो हिंसा का कारण सुविधावादी दृष्टिकोण भी होता है। सामाजिक जीवन को स्वस्थ बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति सुविधावादी दृष्टिकोण को कम करे। अपनी सुविधा के लिए, अपनी प्रसन्नता के लिए न जाने व्यक्ति कितने अपकृत्य करता है, अपराध करता है। सामाजिक जीवन में अनेक प्रतिकूल परिस्थितियां जीवन के संग्राम में आती हैं। इस स्थिति में व्यक्ति यदि उस स्थिति को शांतिपूर्वक सहना सीख जाए तो समस्याएँ समस्याएँ नहीं रहेंगी। सहिष्णुता के अभाव में व्यक्ति आत्महत्या तक कर लेता है क्योंकि वह अप्रिय घटना को नहीं सह सकता, वह शारीरिक कष्टों को सहन नहीं कर सकता है। जितनी भी समस्याएँ होती हैं, उन समस्याओं को व्यक्ति सहन करना सीख जाए तो उसका जीवन सुखमय हो जाएगा। अत: हिंसा जैसी समस्या का समाधान भी कष्ट सहिष्णुता से आसानी से हो सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि सामाजिक जीवन में अधिकतम अहिंसा या शांति हो। उपद्रव न हो, अपराध न हो, आक्रामक मनोवृत्तियां न हों, आतंकवाद न हो अत: सुविधावादी दृष्टिकोण को बदलना होगा। सुविधा को भोगना एक बात है और सुविधावादी दृष्टिकोण होना दूसरी बात है। प्राप्त सुविधा का उपभोग करना अनर्थ नहीं हो सकता किन्तु येन-केन-प्रकारेण सुविधा ही प्राप्त करने के दृष्टिकोण से समस्याएँ पैदा होती हैं। अत: इनसे निजात पाने हेतु कष्ट-सहिष्णुता आवश्यक है।

1.1.4 स्व-नियंत्रण—स्व-नियंत्रण का अर्थ है—अपने आप पर नियंत्रण। अपने आप पर नियंत्रण को व्यापक करें तो अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं, अपने आवेश, आवेगों पर नियंत्रण रखा जा सकता है। अहिंसा के लिए आवश्यक है—स्व-नियंत्रण। अपने आवेगों पर नियंत्रण के अभाव में अहिंसा संभव नहीं है। यदि व्यक्ति स्व-नियंत्रण करता है तो वह स्व के प्रति अहिंसक हो जाता है। साथ ही दूसरों के प्रति भी अहिंसक हो जाता है। अत: दूसरों के प्रति अहिंसक बनने से पहले व्यक्ति स्वयं अहिंसक बन जाए तो वह दूसरों के प्रति स्वयं अहिंसक हो जाता है। तब वह दूसरों को भय नहीं दे सकता है। वह अभय का वातावरण ही निर्मित करता है। यह स्पष्ट भी है कि जिसने क्रोध पर नियंत्रण कर लिया, जिसने लोभ पर नियंत्रण कर लिया, जिसने अहंकार पर नियंत्रण कर लिया या यों कहें कि जिसने अपने निषेधात्मक भावों पर नियंत्रण कर लिया, वह व्यक्ति अपने तथा समाज के प्रति समस्या नहीं बन सकता है अपितु वह स्वस्थ समाज-संरचना में दूसरे का सहयोगी बन सकता है। अत: जीवन-विज्ञान की शिक्षा के द्वारा स्व-नियंत्रण का विकास कर स्वस्थ समाज संरचना का निर्माण हो सकता है।

1.2 सत्य

सामाजिक व्यवस्था का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र है—सत्य। सत्य व्यापक है, अनन्त है। इसलिए वह कल्पनातीत है। व्यक्ति इसे कितना ही समझने का प्रयास करे लेकिन वह पूरा सत्य नहीं जान सकता है। सत्य सत्य है। उसमें दुराव, छिपाव आदि का स्थान नहीं है। वह यथार्थ है। सत्य को पांच भागों में बांटा गया है—अस्तित्व सत्य, नियम सत्य, ऋजुता सत्य, असंवादिता सत्य और प्रामाणिकता सत्य।

1. अस्तित्व सत्य—अस्तित्व सत्य में जगत् का अस्तित्व है। जागतिक नियम या सार्वभौमिक नियम हैं। गति, स्थिति और परिवर्तन—ये जागतिक नियम हैं। अस्तित्व सत्य का संबंध प्रत्यक्ष रूप से समाज के साथ नहीं जुड़ा है क्योंकि प्रत्यक्षत: इनका समाज के साथ संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता है। समाज के साथ नियम जुड़े हुए हैं। वे जागतिक नहीं हैं बल्कि मनुष्यकृत हैं।

2. नियम सत्य- नियम सत्य में मनुष्य द्वारा समाज व्यवस्था को चलाने हेतु बनाये गए हैं। अत: उन नियमों का संबंध मनुष्य के साथ है, समाज के साथ है। चाहे धर्म-व्यवस्था हो, चाहे समाज-व्यवस्था हो, वे सब सत्य हैं। उन्हीं के आधार पर धर्म और समाज-व्यवस्था चलती है। नियम सयम-समय पर बदलते रहते हैं। इसका कारण है कि समय की मांग, व्यवस्था तंत्र की मांग के आधार पर ऐसा होता है। कुछ नियमों में परिवर्धन तथा परिशोधन भी होता है। नियमों का पालन करना सत्य है और अतिक्रमण करना असत्य या अन्याय है। अत: नियमों का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

जिस समाज में व्यक्ति रहता है वहां कुछ मानक होते हैं। उनके आधार पर नियम होते हैं कि व्यक्ति को क्या करना है और क्या नहीं करना है। करना और नहीं करना—समाज-व्यवस्था के संदर्भ में ये महत्त्वपूर्ण बातें हैं। यदि व्यक्ति इन नियमों का पालन करता है तो सामाजिक व्यवस्था सुचारू रूप से चलती है। इनके अतिक्रमण पर समाज में दंड व्यवस्था होती है। दंड व्यवस्था

का प्रावधान किसी को त्रस्त करने के लिए नहीं होता है, किसी को दु:खी करने के लिए नहीं होता है। वरन् व्यवस्था बनाए रखने के लिए होता है। अमन-चैन बनाए रखने के लिए होता है। सामाजिक व्यक्ति अकेला नहीं है। वहां एक का ही सुख निहित नहीं है, एक का ही हित सर्वोपरि नहीं है वरन् सबका हित सर्वोपरि है। व्यक्ति सदैव स्वयं को प्रसन्न रखने के लिए प्रयत्न करता है क्योंकि उसे सुख की चाह होती है। सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब सब सुखी हों। समाज की छोटी इकाई परिवार है। परिवार की खुशी से व्यक्ति सुख का अनुभव करता है तो इसी प्रकार व्यापक स्तर पर समाज की प्रसन्नता से ही प्रत्येक व्यक्ति सुख का अनुभव कर सकता है।

यह भी सत्य है कि समाज-व्यवस्था बिना नियम-कानून के नहीं चल सकती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि व्यक्ति अनेक स्वभाव वाला है। विचार भेद, रुचि भेद आदि कई भेदों के कारण समाज में नियम-कानून भी बनते-बिगड़ते हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि नियमों के कारण सामाजिक-व्यवस्था स्वस्थ रहती है। सामाजिक प्राणी होने के कारण सामाजिक प्रतिष्ठा, कानूनी भय, परलोक की चिन्ता आदि के कारण व्यक्ति सामाजिक नियमों का पालन करता है क्योंकि ये उसके हित में होते हैं। इसलिए सामाजिक नियम कुछ व्यक्तियों के लिए नहीं वरन् पूरे समाज के हितों को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं। चोरी करना, हत्या करना आदि सामाजिक अपराध हैं, कानूनी अपराध हैं। इसका कारण है कि इससे सामाजिक भय, सामाजिक तनाव की स्थिति पैदा होती है और व्यक्ति सहज नहीं रह पाता है। यदि ऐसी स्थितियों पर नियंत्रण न हो तो समाज में अराजकता का बोलबाला हो जाएगा और समाज पतन की ओर उन्मुख हो जाएगा। ऐसा होना एक बहुत बड़ी त्रासदी है, सामाजिक संकट है। अत: नियम सत्य समाज को सकारात्मक दिशा प्रदान करता है। व्यक्ति को सद्मार्ग चलने के लिए प्रेरित करता है, बाध्य करता है ताकि समाज-व्यवस्था स्वस्थ बनी रहे।

3. ऋजुता सत्य—ऋजुता का अर्थ है सरलता, जहां छल, कपट नहीं है वहां ऋजुता है। शरीर की ऋजुता, मन की ऋजुता और वाणी की ऋजुता—ये तीन सत्य हैं। इनके अभाव में केवल छलना रह जाती है। जहाँ छलना होती है, छिपाव होता है वहां संदेह पैदा हो जाता है। यही संदेह आगे चलकर कई समस्याएँ पैदा करता है। छलना वाले व्यक्ति पर किसी का विश्वास भी नहीं होता है। उसके प्रति संदेह की भावना विद्यमान रहती है। संदेह की सीमा भी नहीं होती है। सन्देह के कारण शक्ति का भी अपव्यय होता है। पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं का एक कारण संदेह भी है। ऋजुता सत्य के अभाव में न जाने कितनी ही समस्याएं पैदा हुई हैं, न जाने कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। सन्देह के कारण मनमुटाव होता है। मनमुटाव से अनेक समस्याएँ जन्म लेती हैं। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं कि यदि समाज पदार्थ के आधार पर चलना है, व्यवहार को मानवीय धरातल पर चलना है, उसे स्वेच्छापूर्ण और मृदुतापूर्ण बनाना है तो ऋजुता को प्रश्रय देना ही होगा और छलना, प्रवंचना, संदेह तथा अविश्वास के भूत को भगाना ही होगा। अन्यथा व्यक्ति-व्यक्ति के दुराव को हम मिटा नहीं पाएँगे। अत: मन की दूरी का कारण है—छिपाव और मन की निकटता का कारण है—ऋजुता। जब तक मन में ऋजुता नहीं है तब तक व्यक्ति स्वार्थवश, मोहवश न जाने कितनी ही बुराइयां कर डालता है। यह उसकी कमजोरी है। अत: इस कमजोरी को दूर करना आवश्यक है। तभी समाज के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण पैदा हो सकेगा।

4. असंवादिता सत्य—असंवादिता का अर्थ है—कथनी और करनी की एकरूपता। सामाजिक जीवन में इसका बहुत महत्त्व है। राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता के कारण कथनी-करनी एक नहीं हो सकती हैं। राजनैतिक क्षेत्र में यह समस्या आम होती है। वहां कहा कुछ जाता है और किया कुछ जाता है। इसका कारण यह है कि वह क्षेत्र कूटनीति का है। उसकी बुनियाद इसी के आधार पर होती है। सामाजिक क्षेत्र में यह कथनी और करनी की दूरी समस्या पैदा नहीं करती है- ऐसा नहीं है। वहां भी असंवादिता है, कथनी-करनी में दूरी अवश्य ही देखने को मिलती है। यह आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य तब होता है जब आत्मा, परमात्मा की बात करने वाला व्यक्ति, चैतन्य के प्रति जागरूक व्यक्ति भी इस समस्या से ग्रस्त रहता है। इसका यही कारण है कि व्यक्ति के अहंकार और ममकार में कमी नहीं आई है। यह अहंकार, यह ममत्व जब तक व्यक्ति के भीतर रहता है तब तक वह कथनी-करनी की दूरी को नहीं मिटा सकता है। पदार्थ के प्रति ममत्व अथवा अपनों के प्रति ममत्व का भाव व्यक्ति को असामाजिक कार्य करने में सहयोगी बनाता है। अर्थात् जहां एक ओर राग तथा दूसरी ओर द्वेष है, जहां एक ओर मेरापन है तथा दूसरी ओर परायापन है, वहां व्यक्ति की चेतना न्याय नहीं कर सकती है, त्याग नहीं कर सकती है अथवा सर्व-कल्याण की बात नहीं सोच सकती है। ''मैं और मेरा'' इतने तक ही चेतना का दायरा होता है। ऐसी स्थिति में असंवादिता सत्य कोशों दूर रह जाता है और वही होता है जिसे व्यक्ति चाहता है। समाज विनिमय का क्षेत्र है, आदान-प्रदान का क्षेत्र है। अत: यहां सत्य को स्थान नहीं होगा तो

समाज-व्यवस्था के स्वस्थ रहने का कोई प्रश्न ही नहीं होता है। सौभाग्य से जिस समाज में असंवादिता सत्य को स्थान दिया जाता है वह समाज वास्तव में उन्नति में सहायक बनता है।

5. प्रामाणिकता सत्य—प्रामाणिकता का अर्थ है—ईमानदारी। अत: प्रामाणिकता भी एक मूल्य है। प्रामाणिकता भी तीन प्रकार की बताई गई है—वचन की प्रामाणिकता, अर्थ की प्रामाणिकता और व्यवहार की प्रामाणिकता। व्यक्ति में जब इनके अभाव की स्थिति होती है तो एक समाज में ये तीनों अपराध हैं। व्यवहार की प्रामाणिकता एक समाज को एक सूत्र में बांधे रखती है। यदि व्यवहार में प्रामाणिकता है तो अन्य बातें स्वत: आ जाती हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि व्यक्ति में व्यवहार की प्रामाणिकता का अभाव देखा जाता है। यह एक भयंकर समस्या है। व्यक्ति एक साथ रहते हैं, जीवन चलाते हैं फिर भी एक-दूसरे के प्रति प्रामाणिकता का अभाव देखा जाता है। पड़ोसी-पड़ोसी को धोखा देता है। पुत्र पिता को धोखा देता है। छलता है, ठगता है। कहने का तात्पर्य है कि वैयक्तिक संबंधों से लेकर सामाजिक संबंधों में कटुता का जहर देखा जा सकता है। कुछ वैयक्तिक मूल्य होते हैं तो कुछ सामाजिक मूल्य होते हैं।

जब इन दोनों की गति ही सही न हो तो प्रामाणिकता की बात आ ही नहीं सकती है। व्यवहार में यदि प्रामाणिकता हो तो व्यक्ति कई प्रकार की समस्याओं में खुद समाहित हो सकता है। प्रामाणिकता के अभाव में व्यक्ति न जाने कितने अपराध करता है, जिसका फल परिवार को ही नहीं वरन् समाज को भी भोगना पड़ता है। अप्रामाणिकता एक चोरी है, एक बुराई है। एक पढ़ा-लिखा वर्ग भी बड़ी संख्या में इसमें लिप्त पाया जाता है। कभी चीनी घोटाला, तो कभी पैट्रोल घोटाला, कभी कपड़ा घोटाला तो कभी चारा घोटाला, न जाने कितने ही घोटाले आए दिन सुनने में आते हैं। इससे स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि समाज की दिशा और दशा क्या है। अफसोस की बात तो तब होती है जब इनमें बड़े-बड़े अधिकारी, राजनेता, यहां तक की अपने को ध ार्मिक कहलाने वाले व्यक्ति भी शामिल होते हैं। छोटे तबके के लोग छोटा अपराध करते हैं तो बड़े तबके के लोग बड़ा अपराध ा करते हैं। इसका अर्थ है कि समस्या का कारण भीतर में विद्यमान रहता है। भले ही बाहर मिल जाएँ। प्रामाणिकता का मूल्य समाज में ही आंका जाता है। भले ही वैयक्तिक प्रामाणिकता भी होती है, जहां व्यक्ति अपने लिए जागरूक रहता है पर सामाजिक क्षेत्र में प्रामाणिकता का विशेष मूल्य है। अत: सामाजिक जीवन को सुखमय एवं शांतिपूर्ण बनाने के लिए प्रामाणिकता को स्थान देना ही होगा। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि समाज में प्रामाणिकता है ही नहीं। वह अवश्य ही है लेकिन कितने व्यक्ति और कितनी मात्रा में यह प्रश्न अहम् है। यदि अधिकाधिक व्यक्ति प्रामाणिकता जैसे सत्य को स्वीकार कर लें तो आने वाली कई समस्याओं को रोका जा सकता है और एक स्वस्थ समाज की परिकल्पना की जा सकती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्य वास्तव में व्यक्तित्व का विकास का माध्यम है। समाज विकास का आधार है। यदि विद्यार्थी को प्रारंभ से ही प्रामाणिक जीवन जीने की कला सिखाई जाए तो उसके जीवन में ये मूल्य समाविष्ट हो सकते हैं। ऐसा होने से विद्यार्थी राष्ट्र का उन्नत नागरिक बन सकता है और वही नागरिक समाज के लिए एक दीप-स्तंभ बन सकता है। विद्यार्थी को केवल दर्शन पक्ष एवं सैद्धान्तिक ज्ञान तक ही सीमित न रखा जाए वरन् व्यावहारिक धरातल पर चलना सिखाया जाए। साथ ही उसका जीवन उन्नत बन सके, प्रामाणिक बन सके तथा सुखी बन सके, इस ओर प्रेरित करने की आवश्यकता है।

1.3 अपरिग्रह

स्वस्थ समाज संरचना का तीसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र है—अपरिग्रह। अपरिग्रह का अर्थ है—परिग्रह न करना, संग्रह न करना अर्थात् आवश्यकता के अतिरिक्त संग्रह न करना। व्यक्ति की असीम इच्छाएँ, लालसाएँ उसे परिग्रह की ओर उन्मुक्त करती हैं। अत: इन इच्छाओं पर अंकुश लगाकर पदार्थ के सीमाकरण का प्रयास करना व्यक्ति हित में नहीं, वह समाज हित में, राष्ट्र हित में उपयोगी हो सकेगा। पदार्थ की सीमा होती है लेकिन इच्छाओं की नहीं। अर्थात् इच्छाएँ अनन्त होती हैं और कोई व्यक्ति इसे पूरा कर भी ले तो इसका दुष्प्रभाव समाज पर पड़ता है। ऐसा भी होता है कि सामर्थ्यवान व्यक्ति इच्छाओं की पूर्ति कुछ हद तक कर भी लेते हैं लेकिन एक गरीब व्यक्ति आवश्यक संसाधनों से वंचित रह जाता है। ऐसे में सामाजिक अपराध जन्म लेते हैं और सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। इसलिए अपरिग्रह का सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। अपरिग्रह जैसे मूल्य का विकास तब हो सकता है जब व्यक्ति में अहिंसा का मूल्य विद्यमान हो। अपरिग्रह की चेतना ही अहिंसा की चेतना को विकसित करती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि अहिंसा और अपरिग्रह को कभी अलग नहीं किया जा सकता है। इनका अन्योन्याश्रित संबंध है, अटूट जोड़ा है। अपरिग्रह के प्रति जिसका दृष्टिकोण सही नहीं है, वह अहिंसा का पालन नहीं कर सकता है। अपरिग्रह की साधना एक बहुत बड़ी साधना है। अपरिग्रह के बिना अहिंसा तेजस्विनी नहीं बन सकती है। अत: कहा जा सकता है कि अपरिग्रह की साधना वास्तव में स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है।

व्यक्ति का जीवन दो दिशाओं में चलता है—आध्यात्मिक और भौतिक। एक त्याग का मार्ग है, तो दूसरा भोग का। दोनों एक-दूसरे के विपरीत ध्रुव हैं। इन दोनों के असंतुलन से समाज की संरचना नहीं हो सकती है। त्याग का जीवन जीने वाला व्यक्ति परमार्थ में जीता है तो भोग का जीवन जीने वाले व्यक्ति के लिए परस्परार्थ का जीवन आवश्यक है। इसी दृष्टि से एक सूत्र भी दिया गया कि 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'। यह सूत्र सम्पूर्ण दुनिया के अस्तित्व का संदर्शक है। यदि ऐसी चेतना प्रत्येक व्यक्ति में जाग जाती है तो समाज में विषमता का प्रश्न ही नहीं पैदा होता है। कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार करे तो वह समस्या पैदा कर ही नहीं सकता है। जहाँ मैं, मेरा परिवार वाली चेतना होती है, वहां अपरिग्रह की चेतना भी विकसित नहीं हो सकती है। अत: परस्परार्थ की चेतना ही अपरिग्रह को जन्म देती है। अपरिग्रह का अर्थशास्त्र नहीं होता क्योंकि वह त्याग है। अपरिग्रह के केन्द्र में स्वार्थ नहीं होता है। उसकी दृष्टि तो व्यक्ति के शांतिपूर्ण जीवन में है। शांति मन और आत्मा की अनुभूति है। सामान्य व्यक्ति आत्मा की अनुभूति नहीं कर सकता है। इसलिए उसके लिए पदार्थ और आत्मा के बीच संतुलन बिठाना होता है। अपरिग्रह उस संतुलन का एक संकेत सूत्र बनता है।

एक गृहस्थ पूर्ण रूप से अपरिग्रही हो, यह संभव नहीं है क्योंकि जीवन जीने के लिए व्यक्ति को पदार्थों का संग्रह भी करना होता है क्योंकि उसे भविष्य की भी चिन्ता रहती है। इसलिए अपरिग्रह पूर्णत: लागू हो, यह संभव नहीं है। इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि यदि व्यक्ति अपनी इच्छाओं को सीमित कर ले तो सामाजिक अथवा उससे बड़ी समस्याओं का समाधान हो सकता है। भगवान् महावीर ने परिग्रह पर लगाम लगाने के लिए इच्छा परिणाम का सूत्र दिया। इच्छा परिणाम में परिग्रह का पूर्ण निषेध ा नहीं है अपितु उसकी अल्पता की ओर संकेत किया गया है। इस दृष्टि से अपरिग्रह में एक ओर तो परिग्रह का सर्वथा अभाव है तो दूसरी ओर परिग्रह की अल्पता अथवा सीमाकरण है। परिग्रह की अल्पता को अपरिग्रह का अर्थशास्त्र कहा जा सकता है।

इससे स्पष्ट है कि परिग्रह को पूर्णतया छोड़ा नहीं कहा जा सकता है पर उसका सीमाकरण अवश्य किया जा सकता है। यदि समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं को सीमित कर ले तो व्यक्ति वैयक्तिक जीवन में ही नहीं वरन् सामाजिक जीवन को भी अमन-चैन से जी सकता है। यही स्वस्थ समाज संरचना का आधार है।

बोध प्रश्न

1. स्वस्थ समाज क्या है?
2. हिंसा का क्या कारण है?
3. स्व नियंत्रण का क्या अर्थ है?
4. असंवादिता का क्या अर्थ है?
5. व्यक्ति का जीवन कितनी दिशाओं में चलता है?

2.0 शिक्षा और नैतिकता

शिक्षा और नैतिकता अनिवार्यत: एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। नैतिकता के द्वारा ही स्वस्थ समाज की परिकल्पना की जा सकती है। जिस समाज में नैतिकता न हो, यह समाज रुग्ण समाज है। ऐसा समाज व्यक्ति विकास में नहीं वरन् व्यक्ति पतन का कारण बनता है। अत: ऐसे समाज में कल्याण की कल्पना, उत्थान की कल्पना नहीं की जा सकती है। समाज व्यवस्था के लिए नैतिकता आवश्यकता है। नैतिकता के द्वारा ही कल्याणकारी समाज बन सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि विद्यार्थी को विद्यार्थी काल से इसकी शिक्षा दी जाए। उसके संस्कारों को पुष्ट किया जाए ताकि वह बड़ा होकर एक अच्छा, नैतिक नागरिक बन सके। एक अच्छे, स्वस्थ समाज संरचना में योगदान दे सके। समाज की समस्याओं को समझने, उन्हें समाहित करने में अपना योगदान दे सके। शिक्षा का यह महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह विद्यार्थी को ऐसी शिक्षा दे जो वास्तव में नैतिकता का बोध कराए। उसमें परिपक्व बनाए। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने नैतिक विकास के दो रूप बताए हैं—सामाजिक नैतिकता और वैयक्तिक नैतिकता। समाज के नियम, उपनियमों का पालन करना सामाजिक नैतिकता है तो वृत्तियों पर नियंत्रण रखना वैयक्तिक नैतिकता है। अत: वैयक्तिक अनुशासन के बिना सामाजिक परिवर्तन लाना असंभव है। अत: समस्या का समाधान होगा व्यक्तिगत स्तर पर और उसकी फलश्रुति होगी सामाजिक स्तर पर। आचार्य महाप्रज्ञ जी ने नैतिकता के विकास हेतु निम्न बिन्दुओं को स्पष्ट किया है—

1. उपाय और अभ्यास—बदलने के लिए आवश्यक है उपाय और अभ्यास। विद्यार्थी की मन:स्थिति को पहचानना, उसे बदलने का उपाय खोजना तथा फिर उसका अभ्यास करवाना परिवर्तन में सहायक होता है। मानसिक चंचलता, मानसिक विक्षेप,

जटिल आदतें तथा संस्कार विद्यार्थी को परावर्ती किये रहते हैं। इनके रहते हुए परिवर्तन की बात संभव नहीं हो पाती है। अत: शिक्षा के क्षेत्र में समस्या का समाधान तभी हो सकेगा, नैतिकता का विकास तभी हो सकेगा जब नैतिकता को विकसित करने वाले उपायों का बोध कराना, सैद्धान्तिक जानकारी के माध्यम से उपायों का बोध कराना तथा उन उपायों का अभ्यास कराना शिक्षा में पाठ्यक्रम का अंग होगा। जब तक सैद्धान्तिक जानकारी नहीं होती है तब तक प्रयोग भी पूरा नहीं हो पाता है। अत: नैतिकता तथा उससे सम्बन्धित पहलुओं पर आवश्यक जानकारी देना विद्यार्थी के लिए हितकर हो पाएगा। नैतिकता के परिणाम और अनैतिकता के दुष्परिणाम के मध्य अन्तर स्पष्ट हो जाने पर विद्यार्थी सही को अपनाने का प्रयास करेगा। अर्थात् परिणाम बोध भी आवश्यक है। अत: शिक्षा द्वारा सैद्धान्तिक बोध करना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य है। साथ ही प्रयोगों के द्वारा नैतिकता को पुष्ट करने का प्रयास होना चाहिए। विद्यार्थी द्वारा ग्रहण किये ज्ञान को प्रयोगों के माध्यम से पुष्ट करने, व्यवहारगत बनाने से स्थाई समाधान प्राप्त हो सकेगा। सीखा हुआ कुछ समय तक ही मस्तिष्क में रहता है अथवा अल्प समय तक व्यवहार का हिस्सा होता है। ऐसा इसलिए होता है कि वह ज्ञान संस्कार रूप में परिणत नहीं हुआ होता है। संस्कार परिपक्व हो जाने पर व्यवहार उसी के अनुरूप होता है। अत: शिक्षा का कार्य तभी पूर्ण होगा जब शिक्षा में केवल सैद्धान्तिक ही नहीं वरन् प्रायोगिक उपक्रम भी जुड़े। इसी का परिणाम होगा एक नैतिक व्यक्तित्व का विकास जो स्वस्थ समाज संरचना के लिए सहयोगी होगा।

2. शारीरिक अनुशासन—नैतिकता का आधार है—शारीरिक अनुशासन। जीवन विज्ञान के क्षेत्र में नैतिकता को शरीर के साथ जोड़ा गया है। यह स्पष्ट है कि नैतिकता का एक नहीं अनेक कारण जिम्मेदार होते हैं किन्तु शारीरिक अनुशासन एक महत्त्वपूर्ण कारण है। शारीरिक अनुशासन के बिना न तो मानसिक अनुशासन संभव है और न ही भावात्मक अनुशासन संभव है और न ही इसके बिना नैतिकता संभव है। अत: नैतिक विकास के लिए मानसिक, भावात्मक अनुशासन महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। शरीर और मन दोनों जुड़े हुए हैं। शरीर और मन की व्याख्या एक-दूसरे के बिना नहीं की जा सकती है। कहने का तात्पर्य है कि हमारा व्यवहार मनोशारीरिक होता है। अर्थात् व्यवहार में मन और शरीर—दोनों की क्रियाओं का योगदान होता है। अत: शरीर को समझने के लिए इसके दो तंत्रों को विशेष रूप से समझना होगा। वे हैं—नाड़ी-तंत्र और ग्रंथि-तंत्र। इनके अतिरिक्त भी शरीर में अनेक तंत्र हैं, जो अपना विधिवत कार्य करते रहते हैं। इनमें कहीं भी असंतुलन आ जाता है तो व्यक्ति सुख का अनुभव नहीं करता है। अत: प्राकृतिक तौर से ही शरीर का प्रत्येक तंत्र अपना कार्य बड़े ही व्यवस्थित तरीके से करता है और एक-दूसरे से बहुत ही सहयोगात्मक रूप से जुड़े रहते हैं। इसका तात्पर्य है कि शरीर के तंत्रों का अनुशासन वास्तव में जीवन क्रिया को चलाने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र तो मुख्यतया वे तंत्र हैं जो व्यवहार के लिए उत्तरदायी हैं। नाड़ीतंत्र के अन्तरर्गत मुख्यतया मस्तिष्क और सुषुम्ना हैं। इन्हीं के अन्तर्गत दो मुख्यतंत्र अनुकंपी और परानुकंपी हैं। अनुकंपी की अति सक्रियता व्यवहार को उग्र बनाती है तो परानुकम्पी की अति सक्रियता दब्बूपन लाती है। अत: दोनों का संतुलन आवश्यक है। इसी प्रकार ग्रंथितंत्र के स्रावों में असंतुलन होने से भी व्यवहार असंतुलित होने लगता है। अत: इनका संतुलन आवश्यक है। जैसे स्राव होते हैं वैसे ही भाव भी पैदा होते हैं और वैसा ही व्यवहार भी होता है। अत: शिक्षा में शारीरिक अनुशासन पर विशेष ध यान देने की आवश्कयता है। शिक्षा के साथ स्थूल शरीर का संबंध जुड़ता है। अत: इस स्थूल शरीर को प्रशिक्षित कर समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है। आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं कि शारीरिक अनुशासन के बिना दूसरा अनुशासन आ ही नहीं सकता है और अनुशासन हीनता की समस्या का समाधान नहीं हो सकता। इसलिए शारीरिक अनुशासन बहुत आवश्यक है।

ग्रीक शरीर शास्त्री हिप्पोक्रेटस ने मनुष्यों को चार श्रेणियों में बांटा है—वातवृत्ति, पित्तवृत्ति, कफवृत्ति और रक्तवृत्ति। वातवृत्ति वाला उदास और खिन्न रहता है तो पित्तवृत्ति वाला क्रोधी स्वभाव का होता है। इसी प्रकार कफवृत्ति वाला लालची होता है तो रक्तवृत्ति वाला सदैव प्रसन्न चित्त रहने वाले स्वभाव का होता है। अत: स्पष्ट है कि व्यक्ति के आचार और व्यवहार के पीछे ये तत्त्व भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से भी ग्रंथियों के स्रावों का प्रभाव व्यवहार पर पड़ता है। थायराइड ग्रंथि के असंतुलन से उत्तेजना तथा निराशा आने लगती है, इसी प्रकार गोनाड्स की अति सक्रियता से व्यक्ति में स्वार्थीपन की वृत्ति आने लगती है। अत: स्पष्ट है कि शरीरगत असंतुलन से नैतिकता संभव नहीं हो सकती। चाहे वात, पित्त और कफ के माध्यम से असंतुलन हो अथवा नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र के कारण असंतुलन हो। इनका सीधा प्रभाव व्यवहार पर पड़ता है। ऐसी अवस्था में नैतिकता नहीं आ सकती है। नैतिकता के अभाव में समाज की व्यवस्था भी चरमरा जाती है। जहां लोभ हो, स्वार्थभावना हो वहां त्याग की बात नहीं होती है। वहां दृष्टिकोण एकांगी होता है। दृष्टिकोण एकांगी होने से समाज-व्यवस्था नहीं चलती है।

नैतिकता का संबध कर्म से भी जोड़ा जाता है। कर्मवाद का ध्रुव सिद्धांत है कि कर्म को परिवर्तित किया जा सकता है।

कर्म संस्कारों को परिष्कृत किया जा सकता है। कर्म सूक्ष्म हैं और वे स्थूल शरीर के माध्यम से प्रकट होते हैं। अत: कर्म संस्कारों को परिष्कृत करने के लिए योग के क्षेत्र में उपाय खोजे गए। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का संगम बिन्दु है—भाव। भाव भीतर से आता है और स्थूल शरीर में प्रकट होता है। अत: संगम बिन्दु है नाभि अर्थात् तैजस केन्द्र, विशुद्धि केन्द्र और मस्तिष्क स्थित हाइपोथेलेमस का एक भाग लिम्बिक सिस्टम। अत: इन केन्द्रों को अनुशासित कर, कर्म की धारा को परिष्कृत कर नैतिकता को बढ़ाया जा सकता है। जीवन विज्ञान के अन्तर्गत उन आसनों को भी महत्त्व दिया गया है, जो इस शारीरिक अनुशासन में उपयोगी बनते हैं। वे हैं—शशांकासन, सिद्धासन आदि।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शारीरिक अनुशासन वास्तव में अनेक समस्याओं का समाधान है। इसके द्वारा व्यक्ति स्वस्थ रहेगा तो समाज स्वत: ही स्वस्थ होगा। भले ही शारीरिक अनुशासन वैयक्तिक प्रक्रिया है लेकिन इसका सीधा प्रभाव पड़ता है समाज पर। आचार्य तुलसी ने कहा है कि सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से, राष्ट्र स्वयं सुधरेगा। वास्तव में समाज को सुधारने हेतु उसकी सबसे छोटी इकाई व्यक्ति को सुधारना आवश्यक होगा।

बोध प्रश्न

1. बदलने के लिए क्या आवश्यक है?
2. नैतिकता का आधार क्या है?
3. थाइराइड ग्रंथि के असंतुलन से क्या होता है?
4. कर्मवाद का सिद्धांत क्या है?
5. समाज को सुधारने हेतु किसे सुधारना आवश्यक है?

3.0 व्यक्ति का सामाजीकरण

बच्चा अपने विकास क्रम में अनेक बातें सीखता है। प्रारंभिक अवस्था में उसे इतना ज्ञान नहीं होता है कि वह उसका उपयोग करे। अत: वह अनुकरण करता है। इसी अनुकरण की पद्धति से उसका व्यवहार विकसित होता है। अर्थात् वह दूसरों से सीखता है। बोली, भाषा, अनेक क्रियाकलापों को सीखता है। इसी से वह दूसरे व्यक्तियों से तादात्म्य स्थापित करता है। अत: बच्चे सामाजिक तौर-तरीकों को अपने व्यवहार का अंग बनाता है। यही उसका सामाजीकरण है अर्थात् समाज के अनुरूप व्यवहार, यदि स्वस्थ समाज रचना के सन्दर्भ में सामाजीकरण को समझा जाए तो अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट होते हैं। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजीकरण केवल अनुकरण नहीं, केवल समाज के अनुरूप आचार-व्यवहार नहीं वरन् ऐसा सूक्ष्म व्यवहार है जो वास्तव में सामाजिक स्वस्थता के लिए आवश्कय ही नहीं वरन् अनिवार्य है। अत: आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने सामाजीकरण के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र दिये हैं जो निम्न प्रकार हैं—

1. परस्परता की चेतना का विकास—व्यक्ति स्वावलम्बन की बात करता है, स्व-निर्भरता की बात करता है लेकिन वह वास्तव में पूर्णरूपेण ऐसा नहीं है और न ही ऐसा कर सकता है। सत्य यह है कि व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। इसलिए परस्परावलम्बन की बात स्पष्ट होती है। यथार्थ के धरातल पर व्यक्ति का स्वतंत्र व्यक्तित्व है लेकिन व्यवहार की दृष्टि से वह स्वतंत्र सत्ता नहीं है, क्योंकि वहां एक नहीं अनेक हैं। अत: जहां अनेक होते हैं, वहां परस्परावलम्बन को झुठलाया नहीं जा सकता है, नकारा नहीं जा सकता है। व्यक्ति को अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। चाहे वह मनुष्य जाति हो, प्राणी जाति हो अथवा प्रकृति हो। कहा जाता है कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता है। यह सत्य ही है। अकेला व्यक्ति सब कुछ नहीं कर सकता है, उसे सहयोग चाहिए, सहायता चाहिए। यह तभी संभव है जब उसके भीतर परस्परता की चेतना हो। यदि व्यक्ति केवल स्वार्थ भावना से ही ग्रसित रहे और परमार्थ की भावना न हो, वहां समस्याएँ बढ़ने की संभावना हो जाती है। सामाजिक व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ तक ही सीमित रहे तो समाज के लिए घातक है। जिस समाज में केवल स्वार्थ सिद्धि की बात होती है, वह समाज विकास नहीं कर सकता है। न सामाजिक विकास, न आर्थिक विकास और न शैक्षणिक विकास या अन्य विकास। अत: परस्परता की चेतना की आवश्यकता स्पष्ट होती है। स्वार्थ के साथ परमार्थ की, त्याग की चेतना का होना भी आवश्यक है। अत: शिक्षा का यह कार्य है कि विद्यार्थी में परस्परता की चेतना को जगाए।

2. संवेदनशीलता का विकास—संवेदनशीलता का अर्थ है—एकात्मकता का व्यवहार, एक-दूसरे के कष्ट में सहभागिता। समाज का निर्माण हो तो सकता है किन्तु इस संवेदनशीलता के अभाव में अनेक बुराइयां, अनेक अपराध जन्म लेते हैं। जाहिर है कि जहां वास्तव में संवेदनशीलता होती है, वहां न क्रूरता होती है, न धोखाधड़ी होती है, न भ्रष्टाचार होता है, न किसी तरह के अपराध होते हैं। जिस व्यक्ति

में यह चेतना जाग जाती है कि दूसरों को कष्ट देना, स्वयं को कष्ट देना है तो वह व्यक्ति कभी बुराइयां नहीं कर सकता। संवेदनशीलता में व्यक्ति का व्यवहार एक-दूसरे के प्रति एकात्मक होता है, न कि द्वैतात्मक। यही एकात्मकता की चेतना समाज के विकास का आधार बनती है। अत: यह कार्य भी शिक्षा का है कि वह विद्यार्थी में संवेदनशीलता की चेतना को जगाए।

3. स्वामित्व के सीमाकरण की चेतना का विकास—समाज में स्वामित्व का सीमाकरण आवश्यक है। व्यक्ति धन आदि का स्वामी होता है। यह स्वामित्व एक सीमा तक ही सही है अन्यथा यह समस्या का कारण बन जाता है। अर्थ की सीमा हो तो आर्थिक क्षेत्र में समस्या नहीं हो सकती है। अत: स्वामित्व का सीमाकरण समाज के लिए आवश्यक है। एक सक्षम व्यक्ति अथवा शक्ति सम्पन्न व्यक्ति अपनी सक्षमता से, शक्तिसम्पन्नता से अन्याय करता है, शोषण करता है और अधिकाधिक लाभ कमाता है। दूसरी ओर एक असहाय, गरीब, निर्बल व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं कर पाता है। ऐसी स्थिति में या तो वह निराश, उदास तथा कुंठा से ग्रस्त हो जाता है अथवा मानसिक समस्याओं से ग्रस्त हो जाता है अथवा भावात्मक असंतुलन के कारण सामाजिक अपराध कर लेता है। उसके भीतर प्रतिशोध की भावना होती है और वह उन अमीरों के लिए समस्या बन जाता है जिनके कारण सामाजिक असमानता पैदा हुई हो। यह स्पष्ट है कि व्यक्ति की असीम इच्छाएँ हैं लेकिन साधनों की सीमा है। ऐसे में यदि स्वामित्व का बोध नहीं होता है तो निर्बल और अधिक निर्बल हो जाता है। जहाँ त्याग की चेतना नहीं होती है, वहाँ परोपकार की चेतना नहीं होती है, वहां स्वामित्व का सीमाकरण भी नहीं हो सकता है। जहां पदार्थ ही सब कुछ होता है, पदार्थवादी चिंतन होता है, वहां की समाज-व्यवस्था भी पदार्थवादी बन जाती है। वहां मूल्यों का ह्रास भी होने लगता है। व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण अधिकाधिक कमाने और उसका संग्रह करने के लिए प्रयास करता रहता है। अत: सामाजीकरण की प्रक्रिया में पदार्थ के सीमाकरण तथा स्वामित्व के सीमाकरण की चेतना का विकास वास्तव में महत्त्वपूर्ण है तभी समाज का अस्तित्व कायम रह सकता है।

सारांश

व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर ही उसका विकास हो सकता है, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है। अत: सामाजिक व्यवस्था जितनी स्वस्थ होगी, सामाजिक जीवन भी उतना ही स्वस्थ होगा। स्वस्थ समाज वह समाज है, जिसमें मूल्यों को महत्त्व दिया जाता है, मूल्यों का पालन किया जाता है। स्वस्थ समाज के लिए महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं—अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह।

शिक्षा और नैतिकता—स्वस्थ समाज के लिए नैतिकता आवश्यक है। इसके अभाव में स्वस्थ समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। जिस व्यक्ति के जीवन में नैतिकता होती है, वह व्यक्ति किसी को किसी भी प्रकार दु:ख नहीं पहुँचा सकता है। उसकी चेतना व्यापक स्तर की होती है। अत: व्यवहार में नैतिकता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। नैतिकता के द्वारा ही अपनी नकारात्मक वृत्तियों पर नियंत्रण रखा जा सकता है। इससे व्यक्ति ही नहीं वरन् समाज भी प्रभावित होता है। अत: शिक्षा के साथ नैतिकता के विकास का संबंध है। नैतिकता के विकास के लिए उपाय बोध और अभ्यास पर बल देना आवश्यक है। साथ ही शारीरिक अनुशासन आवश्यक है।

व्यक्ति का सामाजीकरण—व्यक्ति समाज में रहता है, उसके अनुरूप व्यवहार ग्रहण करता है, कुछ आदर्श स्थापित करता है, यही उसका सामाजीकरण है। सामाजीकरण के विकास के निम्न सूत्र महत्त्वपूर्ण हैं—परस्परता की चेतना का विकास, संवेदनशीलता का विकास, स्थायित्व के सीमाकरण की चेतना का विकास आदि।

1. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. नैतिकता का विकास कैसे संभव है?

2. स्वस्थ समाज संरचना हेतु सामाजीकरण के महत्त्वपूर्ण सूत्र बताइए।

2 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वस्थ समाज संरचना हेतु महत्त्वपूर्ण मूल्यों को स्पष्ट कीजिए।

इकाई–4– मूल्य प्रशिक्षण–1

पाठ–7– मूल्य–विकास का आधार–अनुप्रेक्षा

रूपरेखा

1.0 अनुप्रेक्षा का अर्थ

2.0 अनुप्रेक्षा का प्रयोजन

3.0 अनुप्रेक्षा का वैज्ञानिक आधार

4.0 अनुप्रेक्षा का आध्यात्मिक आधार

5.0 अनुप्रेक्षा की निष्पत्तियां

6.0 सामाजिक मूल्य—कर्त्तव्यनिष्ठा और स्वावलंबन

7.0 सारांश

उद्देश्य

इस पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. अनुप्रेक्षा का अर्थ जाना जा सकता है।
2. अनुप्रेक्षा के प्रयोजन को समझा जा सकता है।
3. अनुप्रेक्षा के वैज्ञानिक आधार को समझा जा सकता है।
4. अनुप्रेक्षा के आध्यात्मिक आधार को समझा जा सकता है।
5. अनुप्रेक्षा की निष्पत्तियों को समझा जा सकता है।
6. सामाजिक मूल्य—कर्त्तव्यनिष्ठा और स्वावलम्बन को समझा जा सकता है।

भूमिका

व्यक्ति के व्यक्तित्व का दर्पण होता है उसका व्यवहार। अर्थात् व्यवहार के माध्यम से व्यक्तित्व की पहचान होती है। व्यवहार में मधुरता, निश्छलता, मैत्री, करुणा जैसे आवश्यक गुणों का होना अच्छे व्यक्तित्व का परिचय देते हैं। गुण भीतर में होते हैं और प्रकटीकरण बाहर होता है। अत: आवश्यक है भीतर में गुणों का होना, मूल्यों का होना। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारे व्यवहार का नियामक होता है—अचेतन मन। इसमें अच्छे तथा बुरे दोनों ही प्रकार के संस्कार व आदतें अवस्थित रहते हैं। साथ ही यह भी माना जाता है कि व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने संस्कारों का निर्माण कर सकता है। जटिल आदतों के स्थान पर अच्छी आदतों को, मूल्यों को रोपा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति में ऐसे अनेक प्रयोग हुए हैं जिनके माध्यम से अचेतन की जटिल समस्याओं का समाधान किया गया है। ध्यान-योग के सन्दर्भ में ऐसी ही अनेक समस्याओं का समाधान संभव है। ध्यान-योग में एक प्रयोग है—अनुप्रेक्षा का। इसके माध्यम से संकल्प तथा सुझाव के द्वारा अचेतन को प्रशिक्षित किया जाता है तथा जटिल आदतों के स्थान पर अच्छी आदतों को रोपा जाता है। बार-बार अचेतन में इस प्रकार की सूचना एक स्थाई प्रभाव छोड़ती है और उससे व्यवहार प्रभावित होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से एक ही उद्दीपन की पुनरावृत्ति से मस्तिष्कीय कोशिकाएँ तो प्रशिक्षित होती ही हैं, साथ ही नाड़ी ग्रंथि तंत्र को समुन्नत तथा संतुलित बनाया जा सकता है। अत: अनुप्रेक्षा में सुझावों अथवा भावना द्वारा रासायनिक परिवर्तन के माध्यम से मूल्यों का निर्माण कर व्यक्तित्व को विकसित किया जा सकता है। अनुप्रेक्षा के विभिन्न पक्षों को निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

1.0 अनुप्रेक्षा का अर्थ

अनुप्रेक्षा दो शब्दों से मिलकर बना है—अनु+प्रेक्षा। अनु का अर्थ है बाद में तथा प्रेक्षा का अर्थ है—गहराई से देखना,

चिंतन करना। अत: अनुप्रेक्षा का अर्थ है ध्यान में जो सत्य खोजा, उसके परिणामों पर विचार करना। अर्थात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों पर अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है। उदाहरणार्थ—व्यक्ति जब ध्यान की अवस्था में अथवा शांत अवस्था में अपने भीतर चल रहे भावों का निरीक्षण करता है तो उसे उस भाव का ज्ञान होने लगता है जो बार-बार उठ रहे हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि व्यक्ति के भीतर में वास्तव में क्या समस्या है जो उसके व्यवहार को प्रभावित कर रही है। जब उस सत्य का ज्ञात हो जाता है तो वह समस्या के परिणामों पर विचार करता है। तत्पश्चात् समस्या को छोड़ने तथा सकारात्मक भाव से स्वयं को भावित करता है। इससे व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन होने लगता है। अत: अनुप्रेक्षा व्यवहार परिवर्तन की प्रक्रिया है।

2.0 अनुप्रेक्षा का प्रयोजन

अनुप्रेक्षा के निम्न प्रयोजन हैं—

2.1 सत्य की सतत स्मृति करना

सत्य तो सत्य ही रहता है भले ही व्यक्ति उसे कितना ही नकारने की कोशिश करें। यही बात व्यवहार के सन्दर्भ में भी लागू होती है। व्यक्ति के भीतर न जाने क्या-क्या छिपा है, न जाने कितने ही संस्कार छिपे हैं जिनसे उसका व्यवहार प्रभावित होता रहता है। विडम्बना यह है कि व्यक्ति उसे स्वीकार नहीं करता है। इसी का परिणाम है कि व्यक्ति अपनी समस्या की तह तक नहीं पहुंच पाता है और न ही उसका सही समाधान ढूंढ पाता है। अनुप्रेक्षा एक ऐसा प्रयोग है जिसके माध्यम से व्यक्ति सत्य की सतत् स्मृति कर सकता है। ध्यान की अवस्था में अपने भीतर झांककर अथवा जागरूक होकर अपने भीतरी वातावरण के प्रति सचेत रहकर अपने आपको पहचान सकता है। भले ही व्यक्ति दूसरे के व्यवहार का यथावत अध्ययन नहीं कर सकता है किन्तु अपने भीतरी वातावरण को वही समझ सकता है। अत: इससे यह स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने भावों के प्रति अनजान नहीं रहता है। उसके भीतर के क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, मैत्री, करुणा, अहिंसा आदि भावों से अनजान नहीं रहता है। भले ही वह उसे व्यक्त न करे।

अनुप्रेक्षा में व्यक्ति वास्तव में सत्य खोजता है और इसी सत्य के आधार पर आगे बढ़ता है। अत: व्यक्ति को सतत सत्य की स्मृति रहती है। सत्य को झुठलाकर सत्य नहीं खोजा जा सकता है। सत्य का सहारा लेकर ही मूल तक पहुंचा जाता है। इसलिए अनुप्रेक्षा सतत सत्य की स्मृति कराने का प्रयोग है।

2.2 शक्ति का उपयोग

अनुप्रेक्षा में शक्ति का सही उपयोग किया जा सकता है। यों तो व्यक्ति निरर्थक चिंतन-मंथन में, कोरी कल्पनाओं में तथा निषेधात्मक भावों द्वारा न जाने कितनी ही शक्ति का व्यय करता है। यदि इस शक्ति को सकारात्मक तथा सार्थक कार्यों की ओर मोड़ दिया जाए तो इससे व्यक्ति के जीवन में सुखों का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अत: अनुप्रेक्षा में व्यक्ति सकारात्मक भावों से स्वयं को भावित करता है जिससे शक्ति का सही उपयोग तो होता ही है, साथ ही मनोबल तथा दृढ़ इच्छा-शक्ति का विकास भी होने लगता है। निषेधात्मक भावों से घिरा व्यक्ति अपने जीवन में सुख का अनुभव नहीं कर सकता है। सुख ही मानव जीवन का प्रयोजन होता है। अत: अनुप्रेक्षा एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी शक्ति को सही दिशा देकर जीवन में सफलता का वरण कर सकता है। शक्ति के निरर्थक व्यय को रोककर उसका उचित उपयोग कर व्यक्ति कम समय तथा कम शक्ति में अधिकाधिक सुख एवं आनन्द का अनुभव कर सकता है।

2.3 वैचारिक पवित्रता

व्यवहार शुद्धि के लिए आवश्यक है—वैचारिक पवित्रता। इसके अभाव में व्यक्ति भले ही कितना स्वयं को ढकने की कोशिश करे पर सफल नहीं हो पाता है। अर्थात् विचारों की पवित्रता के द्वारा ही आत्मिक तथा व्यावहारिक शुद्धि बनी रहती है। भीतर की पवित्रता ही बाहर को पवित्र बनाती है। अत: अनुप्रेक्षा के द्वारा वैचारिक पवित्रता को प्राप्त किया जा सकता है।

2.4 वृत्तियों से सुरक्षा

व्यक्ति वृत्ति, प्रवृत्ति और पुनरावृत्ति के चक्र में ही घूमता रहता है। भीतर में पहले वृत्ति उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् ही व्यक्ति उसे व्यवहार में उतारता है और फिर बार-बार उसकी पुनरावृत्ति होती रहती है। मस्तिष्क में विचार तरंग ही वृत्ति है। ये वृत्तियां मन-मस्तिष्क को स्थिर नहीं रहने देती हैं। अर्थात् मानसिक एकाग्रता को ये भंग करती हैं। जिस प्रकार शांत पानी में एक कंकर डाल देने से उसमें कई तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार से मन-मस्तिष्क में भी कोई भाव, कोई विचार बार-बार उठता

रहे तो वह मानसिक एकाग्रता में बाधक होता है। मानसिक एकाग्रता के अभाव में व्यक्ति शांत एवं स्थिर नहीं रह सकता है। यह अवस्था अन्ततः विक्षेप का रूप धारण कर लेती है। मन की अवस्था चंचल होती है। यह चंचलता सत्य की खोज में बाधक बनती है। इसी चंचलता से अनेक वृत्तियां उभरती हैं जिससे शक्ति का व्यय तो होता है साथ ही व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त भी नहीं कर सकता है। अतः इन वृत्तियों पर अंकुश अथवा नियंत्रण के द्वारा कम किया जा सकता है। अनुप्रेक्षा का प्रयोग सत्य को खोजने का प्रयोग है। अतः इन बार-बार उठने वाली वृत्तियों पर अनुप्रेक्षा के द्वारा नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। साथ ही अचेतन को प्रशिक्षित कर भीतर में जमी हुई अथवा दबी हुई वृत्तियों का शमन किया जा सकता है और नई उठने वाली वृत्तियों को रोका जा सकता है। इस प्रकार अनुप्रेक्षा वृत्तियों से सुरक्षा करने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

2.5 समस्या-समाधान

व्यक्ति के जीवन में न जाने कितनी ही समस्याएँ होती हैं। यदि व्यक्ति इनका समाधान करना जानता है तो वह सुख का जीवन जी सकता है। कहा जाता है कि कोई भी परिस्थिति स्वतः में न तो अच्छी होती है और न ही बुरी। उसके दृष्टिकोण के कारण ही कोई परिस्थिति समस्या बनती है। फिर भी व्यक्ति के जीवन में समस्याओं से इन्कार भी नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए क्रोध समस्या है, लोभ समस्या है, भय समस्या है और न जाने इसी प्रकार की कितनी ही समस्याएँ हैं। स्थूल समस्याओं के साथ-साथ सूक्ष्म समस्याएँ भी हैं। समस्या के निमित्त कई हो सकते हैं लेकिन उसका उपादान कारण भीतर में होता है। अतः मानसिक अथवा भावनात्मक समस्याओं का समाधान अनुप्रेक्षा के द्वारा सरलता से किया जा सकता है। आन्तरिक वातावरण को सुदृढ़ बनाए बिना बाह्य वातावरण को नियंत्रित नहीं किया जा सकता है। अर्थात् आन्तरिक वातावरण को सशक्त कर बाह्य परिस्थितियों अथवा समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। अतः अनुप्रेक्षा के द्वारा व्यक्ति अपनी मानसिक एवं संवेगात्मक समस्याओं का समाधान कर सकता है। समस्या को दूर करने तथा समस्या के विपरीत भावना करने से अचेतन को प्रशिक्षित किया जा सकता है। इससे समस्याओं से छुटकारा पाया जा सकता है।

2.6 लक्ष्य प्राप्ति

सफल जीवन जीने के लिए जीवन में लक्ष्य का निर्माण आवश्यक माना जाता है। जब यह लक्ष्य प्राप्त होता है तो वह सुख एवं सन्तोष का जीवन जीता है साथ ही और आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है। अनुप्रेक्षा का प्रयोग भी लक्ष्य प्राप्ति में सहायक बनता है। अनुप्रेक्षा के द्वारा बार-बार भावना कर लक्ष्य को अचेतन तक पहुंचाया जा सकता है। प्रयोग की निरन्तरता से अचेतन में भेजी गई भावना साकार रूप लेने लगती है और समय आने पर व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। लक्ष्य चाहे मूल्य निर्माण का हो अथवा समस्या-समाधान का अथवा आध्यात्मिक विकास का। अतः अनुप्रेक्षा के द्वारा व्यक्ति अपने लक्ष्य प्राप्ति के प्रयोजन को भी पूरा कर सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि अनुप्रेक्षा के अब एक नहीं अनेक प्रयोजन हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपने जीवन को सुखी एवं आनन्दमय बना सकता है। कहा जाता है कि जैसी दृष्टि होती है वैसी ही सृष्टि भी होती है। अतः अनुप्रेक्षा में सकारात्मक भावों, सकारात्मक चिन्तन एवं कल्पनाओं के माध्यम से व्यक्ति का तादात्म्य भी उन्हीं के साथ होने लग जाता है और व्यक्ति वही बन जाता है जैसा वह चाहता है।

3.0 अनुप्रेक्षा का वैज्ञानिक आधार

अनुप्रेक्षा के वैज्ञानिक आधार को निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

3.1 चिकित्सा पद्धति

अनेक इच्छाएँ ऐसी भी होती हैं जो पूरी नहीं हो पाती हैं। उनका दमन करने पर वे अचेतन में पहुंचकर अनेक बार पुनः विकृत रूप में प्रकट होती हैं जिससे व्यक्तित्व विघटित हो जाता है। ऐसा भी होता है कि जो इच्छाएँ अचेतन में दब जाती हैं वे सपने के माध्यम से प्रकट होती हैं। सपने में व्यक्ति उस इच्छा की पूर्ति कर लेता है। इस प्रकार अचेतन मन में दबी हुई इच्छा अथवा संस्कार व्यवहार को प्रभावित करते हैं। अनेक मानसिक समस्याओं का कारण यहीं अचेतन में दबी इच्छाएँ ही हैं। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता है कि बार-बार प्रकट होने वाले संवेग स्थाई बन जाते हैं और वे चरित्र का हिस्सा बन जाते हैं। अतः इससे व्यवहार भी प्रभावित होता है। अनुप्रेक्षा के द्वारा इन संवेगों को स्थाई रूप से खत्म किया जा सकता है।

3.2 सूझाव चिकित्सा

मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्राइड नामक मनोवैज्ञानिक ने सम्मोहन के माध्यम से इन मानसिक समस्याओं का समाधान ढूंढ निकाला। उन्होंने मानसिक रोगी को सम्मोहन की अवस्था में ले जाकर उसके अचेतन में सुझाव के द्वारा बीमारी को बाहर कर दिया। सम्मोहन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें रोगी को कृत्रिम निद्रा की अवस्था में ले जाया जाता है। तत्पश्चात् संबंधित बीमारी को अथवा समस्या को खत्म होने तथा स्वस्थ होने का सुझाव दिया जाता है। यह कार्य सम्मोहन करने वाला व्यक्ति करता है। सुझावों के द्वारा व्यक्ति को सम्मोहित किया जाता है। कृत्रिम निद्रा की अवस्था में अचेतन मन से सम्पर्क साधकर मनोचिकित्सक समस्याओं का समाधान करता है। अत: फ्राइड ने सुझावों के द्वारा अचेतन की समस्याओं का समाधान किया। युंग नामक मनोचिकित्त्सक की स्वत: सुझाव चिकित्सा पद्धति के द्वारा मरीज को स्वस्थ करने की नई पद्धति स्थापित की जिसमें रोगी स्वयं अपने आप को सुझाव देता है।

अनुप्रेक्षा का प्रयोग भी एक प्रकार का सुझाव अथवा स्वत: सुझाव पद्धति है। अनुप्रेक्षा के प्रयोग में बार-बार एक ही भावना के द्वारा अचेतन को प्रशिक्षित किया जाता है। अर्थात् ध्यान की अवस्था में बार-बार एक ही प्रकार की भावना करने से मन उससे भावित होने लगता है। उससे स्वभाव-परिवर्तन अथवा समस्या-समाधान में सहायता मिलती है। अनुप्रेक्षा में दूसरों से प्रयोग करवाया जाता है तथा व्यक्ति स्वयं भी प्रयोग करता है। चाहे दूसरा व्यक्ति प्रयोग करवाए अथवा व्यक्ति स्वयं प्रयोग करे लेकिन दोनों ही अवस्थाओं में सुझाव ग्रहण करने वाला व्यक्ति ही भावना के प्रति जागरूक रहता है। अर्थात् वह उसे ग्रहण करता है। यदि वह भावना अथवा सुझाव को ग्रहण न करे तो सुझाव देने का औचित्य नहीं रह जाता है। जब तक व्यक्ति सुझाव को मनोयोग से ग्रहण नहीं करता तब तक भले ही कई प्रयास किये जाएँ, सफलता नहीं मिल सकती है। ध्यान-योग के प्रयोग कोई जादू या चमत्कार के प्रयोग नहीं हैं जो बिना प्रयास के ही परिणाम दिखा दें। उसके लिए व्यक्ति को आस्था पूर्वक ग्रहण करना होता है और अभ्यास आवश्यक होता है। अत: अनुप्रेक्षा का प्रयोग सुझाव अथवा स्वत: सुझाव चिकित्सा का उपयोगी प्रयोग है। व्यक्ति सकारात्मक भावों से स्वयं को बार-बार सुझाव देकर स्वस्थ एवं प्रसन्नचित्त बन सकता है। व्यवहार में यह देखा जाता है कि जिस कार्य को व्यक्ति दोहराता रहता है वह आदत का हिस्सा बन जाता है। हमारी प्रत्येक कोशिका जीवित इकाई है। अत: इसे जैसा आदेश दिया जाता है अथवा जैसा कार्य करवाया जाता है, वह वैसा ही अनुकरण करती है। अत: वैज्ञानिक दृष्टि से भी सुझाव चिकित्सा से उन कोशिकाओं को प्रशिक्षित किया जा सकता है जो हमारे व्यवहार के लिए उत्तरदायी हैं। अत: अनुप्रेक्षा का प्रयोग वैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सकारात्मक परिवर्तन के लिए उपयोगी प्रयोग है।

3.3 आस्था-चिकित्सा

सुझाव चिकित्सा के अतिरिक्त आस्था चिकित्सा का प्रयोग भी प्रचलित रहा है। भारत ही नहीं वरन् पाश्चात्य देशों में भी यह प्रयोग प्रचलन में रहा है। इस प्रयोग में व्यक्ति की आस्था ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। जब व्यक्ति में इस आस्था का निर्माण हो जाता है कि बीमारियां मात्र एक संयोग है और जो संयोग होता है उसका निश्चित वियोग होता है। तब वह बाहरी साधनों का सहारा हलए बिना रोग और द1:ख से मुक्त हो जाता है। उसके दु:ख का संवेदन समाप्त हो जाता है। यह 'ास्था द्वारा रोग चिकित्सा' स्वयं सूचना या आत्म-सम्मोहन के द्वारा भावना का पुष्टीकरण है। व्यक्ति यदि सुझाव के द्वारा स्वयं को भावित करे तो परिवर्तन होने से आस्था भी घनीभूत होने लगती है। अत: चिकित्सा पद्धति भले ही कोई भी हो, व्यक्ति दृढ़ इच्छा-शक्ति से उसका प्रयोग करे तो सफलता मिलेगी ही। इन सबमें मुख्यतया एक ही बात स्पष्ट होती है कि व्यक्ति की भावना ही उसे स्वस्थ बनाती है। भावना केवल कुछ सोचना ही मात्र नहीं है वरन् कोशिकाओं को अपने वश में करना है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि कोशिकाएँ सुझाव के अनुसार अनुकरण करती हैं। अत: भावना के द्वारा न्यूरोन्स (मस्तिष्क कोशिकाएँ) को प्रशिक्षित कर मनचाहा कार्य करवाया जा सकता है। मस्तिष्कीय धुलाई के लिए भावना का प्रयोग वास्तव में उपयोगी है। इससे पुराने संस्कार छूटकर नए संस्कारों का संचय होता है। बार-बार एक प्रकार की भावना से ध्वनि प्रकंपनों को पैदा किया जा सकता है। ये ध्वनि प्रकंपन ब्रह्मांड में अपनी जैसी ध्वनि तरंगों से हितकर अधिक शक्ति के साथ वापस आती हैं। अत: प्रयोग करने वाले व्यक्ति को इसका प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अनुप्रेक्षा केवल ध्यान करना ही नहीं, केवल शारीरिक दृष्टि से निष्क्रिय रहना ही नहीं है वरन् सुझावों के द्वारा भीतर को बदलने की प्रक्रिया है। प्रत्येक संबंधित कोशिका को प्रशिक्षित करने की प्रक्रिया है। हमारे सारे क्रियाकलापों को संपादित करने वाला महत्त्वपूर्ण उपकरण है—मस्तिष्क। मस्तिष्क में सकारात्मक सुझावों से मनचाहा परिवर्तन लाया जा सकता है। एक ही उद्दीपन बार-बार मिलने से शरीर में रासायनिक परिवर्तन होने लगता है। अत: अच्छे सुझावों द्वारा भीतरी स्रावों को प्रभावित किया जा सकता है। स्राव के अनुसार भाव और भाव के अनुसार स्राव बनते हैं। यदि अच्छे भाव अथवा सकारात्मक

सुझाव का प्रयोग किया जाए तो तत्संबंधी सुखों को पैदा किया जा सकता है और प्रयोग की निरन्तरता से यह परिवर्तन स्थाई हो सकता है।

बोध प्रश्न

1. अनुप्रेक्षा का क्या अर्थ है?
2. व्यवहार शुद्धि के लिए क्या आवश्यक है?
3. सम्मोहन क्या है?
4. मस्तिष्कीय धुलाई के लिए क्या आवश्यक है?
5. हमारे सारे क्रिया कलापों को संपादित करने वाला उपकरण कया है?

4.0 अनुप्रेक्षा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

अनुप्रेक्षा के आध्यात्मिक आधार को निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

4.1 सत्य के खोज की प्रक्रिया

अनुप्रेक्षा सत्य के खोज की प्रक्रिया है। इसमें उस सत्य की खोज की जाती है। जो वास्तव में अचेतन की गहराइयों में दबा रहता है। सत्य व्यापक है। व्यक्ति उसका बिन्दु मात्र ही जानता है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि व्यक्ति अविद्या अथवा मिथ्या-दृष्टिकोण के कारण सत्य को भी नहीं जान सकता है। ऐसी स्थिति में आगे बढ़ने का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता है। अनुप्रेक्षा एक ऐसा प्रयोग है जिसमें व्यक्ति अपने भीतर की सच्चाई को जानने का प्रयास करता है। वह सच्चाई है उसके अनुभव के द्वारा प्रतीत हुई सच्चाई। अनुप्रेक्षा में सत्य के परिणाम पर ही विचार किया जाता है और एक सकारात्मक भावना से स्वत: को भावित किया जाता है। ध्यान की अवस्था में सत्य पर विचार करते-करते व्यक्ति उस बिन्दु पर पहुँच जाता है जहाँ समस्या का मूल छिपा हुआ है। केवल ऊपरी तौर पर बिन्दु को खोज लेना ही पर्याप्त नहीं होता है। उसके लिए आवश्यक है गहराई का अनुभव। अत: अनुप्रेक्षा के द्वारा सत्य को पकड़कर अचेतन की अतल गहराइयों को स्पर्श किया जा सकता है। वहीं से उद्घाटित होता है—सत्य। सत्य का साक्षात्कार असत्य का समाधान है, समस्याओं का समाधान है।

4.2 मूर्च्छा निवारण की प्रक्रिया

व्यक्ति अपने जीवन काल में मूर्च्छा से भी ग्रस्त होता है। मूर्च्छा मूर्खता से भी अधिक जटिल समस्या है। आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं मूर्खता तो ज्ञान का, समझ का अभाव है लेकिन मूर्च्छा जान-बूझकर गलती करना है। यह स्पष्ट भी है कि नासमझ को तो समझाया जा सकता है लेकिन जानबूझकर गलती करने वाले समझदार व्यक्ति को समझाना कठिन है। नासमझ तो मान भी जाएगा लेकिन जान-बूझकर गलती करने वाला इतनी आसानी से मान जाए, आवश्यक नहीं है। अत: मूर्खता से अधिक भयानक है—मूर्च्छा। मूर्च्छा व्यक्ति को अपने पाश में बांधे रखती है तो व्यक्ति जानते हुए शुभ कर्म नहीं कर पाता है क्योंकि उसके संस्कार इतने परिपक्व हो जाते हैं कि वह असहाय की तरह ही बना रहता है। इसका समाधान तब हो सकता है जब व्यक्ति अपने संस्कार परिवर्तन अथवा भाव शुद्धि पर विशेष ध्यान दे। अनुप्रेक्षा एक ऐसा प्रयोग है जो इस मूर्च्छा को तोड़ने का प्रयास करता है। भीतर में जो ग्रंथि विद्यमान है, उसे खोलने का प्रयास करता है। कहा भी गया है कि अनुप्रेक्षा मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिंतन है। भावात्मक रूप से असंतुलित व्यक्ति न जाने कितनी ही ग्रथियों का शिकार हो जाता है। ये ग्रंथियां ही उसे मूर्च्छित कर देती हैं, बेहोश कर देती हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति इनके ही हाथों की कठपुतली बनकर रह जाता है। अत: अनुप्रेक्षा इन ग्रंथियों का विघटन करती है, मूर्च्छा को तोड़ती है और व्यक्ति को शांत एवं प्रसन्नचित्त जीवन जीने में मदद करती है।

4.3 स्वाध्याय की प्रक्रिया

अनुप्रेक्षा स्वाध्याय की प्रक्रिया है। इसमें एक ही भावना को बार-बार जपा जाता है। अनुचिंतन पर बार-बार विचार किया जाता है। अत: स्वाध्याय अर्थात् स्व का अध्ययन, अपने अच्छे-बुरे भावों का अवलोकन तथा भावों को खत्म करने का प्रयास करना है। स्वाध्याय में व्यक्ति स्वयं का अवलोकन करता है। बिना स्व के अवलोकन के सच्चाई हाथ नहीं लगती है। स्व का अवलोकन मानसिक एवं भावनात्मक समस्याओं के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है आध्यात्मिक विकास के लिए। अत: उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए स्वाध्याय को नकारा ही नहीं जा सकता है। कई बार व्यक्ति को अपने बारे में जानकारी ही

नहीं होती है। स्वाध्याय एक प्रक्रिया है भीतर झांकने की, स्वयं का अवलोकन करने की। अत: अनुप्रेक्षा इसमें सहायक बनती है, जिसमें व्यक्ति स्वाध्याय के द्वारा अपनी शक्तियों को बढ़ा सकता है तथा निषेधात्मक वृत्तियों से छुटकारा पा सकता है।

4.4 ध्यान की योग्यता बढ़ाने की प्रक्रिया

भावना का अभ्यास करते-करते व्यक्ति में ध्यान की योग्यता का विकास हो जाता है। अभ्यास से मानसिक एकाग्रता का विकास होता है। मानसिक एकाग्रता से व्यक्ति गूढ़ रहस्यों का ज्ञाता भी हो जाता है। अनुप्रेक्षा में भी ध्यान की योग्यता को बढ़ाने के लिए विभिन्न प्रकार की भावनाओं का अभ्यास किया जाता है। वे भावनाएँ हैं—ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चरित्र भावना तथा वैराग्य भावना।

1. ज्ञान भावना में राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से जानने का अभ्यास किया जाता है।
2. दर्शन भावना में राग-द्वेष और मोह से तटस्थ होकर देखने का अभ्यास किया जाता है।
3. चरित्र भावना में राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से आचरण का अभ्यास किया जाता है।
4. वैराग्य भावना अनासक्ति, अनाकांक्षा और अपव्यय का अभ्यास किया जाता है।

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चरित्र और वैराग्य भावना के द्वारा व्यक्ति ध्यान में अपने आप को समाहित कर सकता है। इससे ध्यान करने की शक्ति का विकास हो सकेगा और आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति होगी। संस्कार कहीं चित्त में न रह जाएँ, ध्यान में होने वाले विविध अनुभवों में कहीं लगाव न हो जाए इसके लिए एकत्व, अनित्य, अशरण तथा संसार अनुप्रेक्षाओं का प्रयोग भी बताया गया है। ये अनुप्रेक्षाएँ व्यक्ति को सतत् सत्य का भान कराने में सहायक होंगी और ध्यान करने वाला बीच में न अटक कर आगे की यात्रा की ओर गति कर सकेगा।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अनुप्रेक्षा आध्यात्मिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इसके द्वारा संचित कर्म संस्कारों का विलय कर नए संस्कारों को रोपने में सहायता मिलती है। आधि, व्याधि और उपाधि को भावनात्मक प्रक्रिया से समाहित किया जा सकता है। ध्यान में एक-एक क्षण के प्रति जागरूक रहकर, प्रत्येक परिवर्तन का साक्षी रहकर ही भीतरी अनुभवों का ज्ञान होता है। अत: अनुप्रेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से कई सन्दर्भों में उपयोगी सिद्ध होती है।

5.0 अनुप्रेक्षा की निष्पत्तियाँ

अनुप्रेक्षा की निम्न निष्पत्तियां हैं—

5.1 चित्त शुद्धि

अनुप्रेक्षा का प्रयोग चित्त शुद्धि का प्रयोग है। इस प्रयोग के करने से चित्त में किसी भी प्रकार की मूर्च्छा नहीं जगती है अथवा किसी भी प्रकार का मैल नहीं जमता है। प्रेक्षाध्यान का मूल हार्द चित्त शुद्धि अथवा भाव शुद्धि है। अनुप्रेक्षा प्रेक्षाध्यान का ही एक प्रयोग है। अत: यह भी चित्त-शुद्धि में सहायक बनता है। चित्त अशुद्ध तब होता है जब उसमें विकार जमते हैं। विकार तब जमते हैं जब भाव अशुद्ध होते हैं। भाव की अशुद्धि पूरे व्यवार को, पूरे व्यक्तित्व को विघटित कर देती है। व्यवहार का मूल भाव ही है। भाव शुद्धि के अभाव में न तो समस्याओं का समाधान हो पाता है और न ही आध्यात्मिक विकास हो पाता है। अत: चित्त को विकार रहित बनाकर व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है। अनुप्रेक्षा में अनेक भावनाएँ हैं जो चित्त को निर्मल बनाने में सहायक हैं, साथ ही व्यक्ति अपनी समस्या के विपरीत भावना के द्वारा स्वयं को विकार रहित बना सकता है। क्रूरता की भावना होने पर करुणा की भावना का विकास करना और आसक्ति होने पर अनासक्ति की भावना करना तथा अनित्य, अशरण आदि भावनाओं से खुद को भावित करके चित्त को शुद्ध बनाया जा सकता है, निर्मल बनाया जा सकता है। अत: अनुप्रेक्षा के प्रयोगों से चित्त शुद्धि का लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

5.2 समाधि की उपलब्धि

आध्यात्मिक जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलबिध है—समाधि की प्राप्ति। इस उपलब्धि के मिलने पर और उपलब्धियां गौण हो जाती हैं। अनेक विशेषताओं तथा उपलब्धियों से सम्पन्न व्यक्ति भी दीन, हीन, दु:खी तथा असहाय देखे जा सकते हैं। मानसिक रूप से कई समस्याओं से ग्रसित देखे जा सकते हैं लेकिन समाधि सम्पन्न व्यक्ति जीवन में प्रसन्नचित्त तथा आनन्द सम्पन्न रहता है। समाधि सम्पन्न व्यक्ति शरीर एवं मन से भी स्वस्थ रहता है। उसे कोई समस्या सताती ही नहीं है क्योंकि उसके भीतर

इनकी चाह ही नहीं रहती है। जिस व्यक्ति के मन में इच्छाएँ हैं, चाह हैं, वह व्यक्ति उन्हीं के लिए प्रयास करता है। जिसमें चाह ही नहीं है, उसका प्रयास उस ओर नहीं होता है। जैसे क्रोधी व्यक्ति यदि न चाहे कि वह क्रोध करे तो वह क्रोधी नहीं हो सकता है, चोर न चाहे चोर बनना तो वह चोर नहीं बन सकता है। इसी प्रकार जितने भी निषेधात्मक भाव हैं, व्यवहार हैं, इन्हें बाहर निकालने के लिए व्यक्ति की इच्छा हो, चाह हो तो वह आसानी से निकाल सकता है। इसी प्रकार समाधि की चाह रखने वाला व्यक्ति अनुप्रेक्षा के माध्यम से अनेक समस्याओं का समाधान पा सकता है।

5.3 समस्या-समाधान

जीवन में एक नहीं अनेक समस्याएँ हैं। व्यक्ति इन्हें दूर करने का यथा संभव प्रयास करता है। कुछ समस्याएँ इतनी जटिल होती हैं कि व्यक्ति उन्हें छोड़ ही नहीं पाता है। अनुप्रेक्षा के प्रयोगों से व्यक्ति उन जटिल आदतों को छोड़ने में सफल हो जाता है जो उसके दु:ख का कारण हैं, समस्या का कारण हैं। क्रोध न करना एक बात है और न चाहते हुए क्रोध करना दूसरी बात है। लोभ की चाह न रखना भिन्न बात है और लोभ को चाहते हुए न छोड़ पाना भिन्न बात है। अनुप्रेक्षा के द्वारा उस समस्या का समाधान भी संभव है जिसे व्यक्ति चाहकर भी नहीं छोड़ पाता है। अर्थात् उन कार्यों को करने के लिए वह विवश होता है जिन्हें वह नहीं करना चाहता है। जैसे व्यक्ति नशे को चाहकर भी नहीं छोड़ पाता है। इसका यही कारण है कि नशा शारीरिक और मानसिक आवश्यकता बन जाता है। शरीर के तंत्र उस नशे पर ही अधीन हो जाते हैं। अर्थात् नशे की पूर्ति न होने पर शरीर, मन बेचैन होने लगता है। वह बेचैनी तभी शांत होती है जब नशे की पूर्ति हो जाए। इसी प्रकार व्यक्ति के जीवन में न जाने कितनी ही जटिल आदतें हैं जो व्यक्ति को नचाती रहती हैं और व्यक्ति नाचता रहता है। अनुप्रेक्षा इन जटिल समस्याओं का समाधान करने में मददगार बनती है।

बार-बार भावना अथवा सुझावों द्वारा अचेतन को प्रशिक्षित कर उन न्यूरोन्स को प्रशिक्षित कर जो जटिल आदतों को बदलने के लिए जिम्मेदार हैं, समस्या का समाधान किया जा सकता है। कहा जाता है कि भावना के अनुरूप ही शरीर में रासायनिक परिवर्तन होने लगते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से बार-बार एक ही उद्दीपन मिलने पर नाड़ी-तंत्र और ग्रंथि-तंत्र प्रभावित होते हैं। मुख्यतया ग्रंथितंत्र के स्राव (हार्मोन) स्रावित होते हैं। बार-बार क्रोध का उद्दीपन मिलने पर उसी के अनुरूप हार्मोन स्रावित होते हैं और तत्संबंधी ग्रंथि पर निरन्तर इस प्रकार के उद्दीपन का प्रभाव पड़ने पर वह असंतुलित हो जाती है। तब व्यक्ति की स्थिति यह बन जाती है कि थोड़ी-सी भी प्रतिकूल परिस्थिति होने पर व्यक्ति क्रोधी हो जाता है। इसके विपरीत सकारात्मक उद्दीपन के द्वारा मस्तिष्कीय तरंगों को संतुलित कर ग्रंथि-तंत्र तथा नाड़ी-तंत्र को भी संतुलित रखा जा सकता है। व्यवहार को प्रभावित करने में इन्हीं को भूमिका सक्रिय होती है। अत: अनुप्रेक्षा के प्रयोग से व्यक्ति अपनी जटिल आदतों, जटिल समस्याओं का स्थाई समाधान पा सकता है।

5.4 संस्कार निर्माण

अनुप्रेक्षा के प्रयोग से व्यक्ति अपने शुभ संस्कारों का निर्माण कर सकता है। संस्कार गहराई में छिपे प्रभावों को कहा जाता है। अर्थात् जो प्रभाव पुष्ट हो जाता है, वह संस्कार का रूप धारण कर लेता है। अनुप्रेक्षा गहराई में जाकर उस संस्कार को तोड़ने की प्रक्रिया है जो व्यक्ति को निषेधात्मक रूप से प्रभावित करती है। अनुप्रेक्षा के द्वारा प्रामाणिकता, मैत्री, करुणा, त्याग, परोपकार आदि मूल्यों को रोपित कर उन संस्कारों को पुष्ट किया जा सकता है। संस्कार पुष्ट हो जाने से ही व्यवहार को प्रभावित करते हैं। अत: अनुप्रेक्षा में संस्कार निर्माण की सामर्थ्य भी है।

बोध प्रश्न

---

1. स्वाध्याय की प्रक्रिया क्या है?
2. समाधि की प्राप्ति किसकी उपलबिध है?
3. स्वावलंबन का क्या अर्थ है?
4. सुखी एवं सफल जीवन के लिए क्या आवश्यक है?
5. संस्कार क्या है?

6.0 सामाजिक मूल्य

व्यक्ति जिस समाज में रहता है उस समाज के कुछ मूल्य निर्धारित होते हैं। यह इसलिए आवश्यक है कि मूल्य व्यक्ति को

उसकी सीमा में रहकर एक आदर्श की ओर प्रेरित करते हैं। **समाज संबंधों का जाल है। इन संबंधों में मधुरता तभी कायम रख सकती है जब व्यक्ति के जीवन में कुछ मूल्यों की प्रतिष्ठा हो।** संबंध इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति इन्हीं के सहयोग से अपना विकास कर सकता है। कहा जाता है कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता है। कहने का तात्पर्य है कि अकेला व्यक्ति सहयोग के अभाव में विकास नहीं कर पाता है। समाज में रहकर ही वह अपनी मूल-प्रवृत्तियों की पूर्ति कर सकता है। समाज के अभाव में व्यक्ति का अस्तित्व नहीं है। कहा गया है कि समाज के बिना या तो देवता रह सकता है या पशु। व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध है। एक-दूसरे पर आश्रित, एक दूसरे पर निर्भरता — यही समाज का स्वरूप है। अत: ऐसी स्थिति में यदि मूल्य जैसे मार्गदर्शक तत्त्वों का अभाव हो तो व्यक्ति सुखी भी नहीं रह सकता है। मूल्यों के अभाव में व्यक्ति पशुवत ही है। मूल्यों के कारण ही उसकी श्रेष्ठता प्राणियों में ाद्ध होती है।उसमें मूल्य जैसी चेतना है। स्वार्थ चेतना के साथ परमार्थ चेतना का भी समावेश है। समाज के अनेक मूल्य हैं। यहां पर केवल दो मूल्यों-कर्तव्यनिष्ठा और स्वालंबन की चर्चा की गई है—

6.1 कर्त्तव्य-निष्ठा

कर्त्तव्यनिष्ठा समाज का एक महत्त्वपूर्ण मूल्य है क्योंकि कर्तव्य श्रेयस्कर कर्म है। कर्त्तव्यनिष्ठा शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है कर्तव्य और निष्ठा। दूसरों के प्रति उत्तरदायित्व को पूरा करने नाम कर्तव्य है। कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा भाव न हो तो व्यक्ति उसका निर्वहन सही ढंग से नहीं कर सकता है। निष्ठा के अभाव में कोई भी कार्य वह परिणाम नहीं ला पाता है जो वास्तव में आना चाहिए। निष्ठा व्यक्ति में समर्पण का भाव पैदा करती है। अत: कर्त्तव्यनिष्ठा व्यक्ति को एक अच्छा नागरिक बनाने में सहायक होती है। जैसा कि कहा गया है कि कर्तव्य श्रेयस्कर कर्म है। विदुर नीति में विदुर ने श्रेयस्कर कर्म को स्पष्ट करते हुए कहा है कि बुद्धिबल से किए जाने वाले कर्म श्रेष्ठ है, बाहुबल से किए जाने वाले कर्म मध्यम हैं, कपट आदि से किए जाने वाले कर्म अधम है और बलात्कार आदि से किए जाने वाले कर्म अति अधम हैं। अत: जो श्रेष्ठ कर्मो का सेवन करता है और निन्दित कर्मो का त्याग करता है, वह पंडित है।

समाज में व्यक्ति का एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य है। समाज के प्रति कर्त्तव्य हैं, राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य हैं तथा इससे व्यापक स्तर पर व्यक्ति के कर्त्तव्य हैं। समाज में अधिकार और कर्त्तव्य दोनों साथ-साथ चलते हैं। व्यक्ति अधिकारों का उपयोग तभी कर सकता है जब वह कर्त्तव्य करता है। अर्थात् कर्त्तव्यों की पृष्ठभूमि में व्यक्ति अधिकारों का उपयोग कर सकता है। प्राचीन विचारकों ने अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्य को ही महत्त्व दिया है क्योंकि कर्त्तव्य व्यक्ति को क्रियाशील रखते हैं, सत्कार्य की ओर प्रेरित करते हैं। कर्त्तव्यों के द्वारा अधिकारों की स्थापना स्वत: हो जाती है। यदि व्यक्ति अधिकारों की न भी बात करे लेकिन अपने-अपने कर्त्तव्यों का सभी सही तरह से पालन करें तो भी किसी समस्या का प्रश्न नहीं हो सकता है। व्यक्ति एक-दूसरे के लिए सकारात्मक सोच रखता है, उसी अनुरूप कार्य करता है तो वह परिवार या वह समाज को सुख का वातावरण ही दे सकता है। व्यक्ति का कार्यक्षेत्र व्यापक है अथवा उसका संबंध अनेक स्तरों पर है। कर्त्तव्यनिष्ठा व्यक्ति को सुखी जीवन जीने में सहायक होती है। साथ ही समाज में भी सकारात्मक वातावरण पैदा करती है।

7.0 कर्त्तव्य के प्रकार

कर्त्तव्य के दो प्रकार हैं—कानूनी कर्त्तव्य और नैतिक कर्त्तव्य।

7.1 कानूनी कर्त्तव्य

कानूनी कर्त्तव्य वे हैं जो कानून द्वारा प्रतिपादित होते हैं और इनका प्रयोग व्यक्ति को करना ही होता है। अर्थात् ये व्यक्ति को कर्त्तव्य पालन हेतु विवश करते हैं। व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह किसी को क्षति न पहुंचाए, चोरी न करे, हत्या न करे, अपराध न करे आदि-आदि। अर्थात् समाज हित के जो भी कार्य हैं, उनका उल्लंघन न हो—इस हेतु कानूनी कर्त्तव्यों का प्रावध ाान होता है। ये प्रत्येक राज्य-व्यवस्था में निर्धारित होते हैं। व्यक्ति भले ही कहीं भी रहे, किसी भी संस्कृति का रक्षक हो, किसी भी जाति अथवा धर्म का हो। व्यक्ति जितना ही इन कानूनी कर्त्तव्यों का उल्लंघन करता है, उसे उतना ही बड़ा दण्ड दिया जाता है। यह दण्ड व्यवस्था किसी को दु:ख पहुंचाने के लिए नहीं होती वरन् उसका स्वरूप सकारात्मक होता है। सकारात्मक इसलिए होता है कि ये व्यक्ति को गलत कार्य करने से रोकते हैं। यों तो व्यक्ति अपने जीवन में कुछ-न-कुछ अंशों में मूल्यों का अवश्य ही पालन करता है लेकिन कानूनी कर्त्तव्य व्यक्ति को शिथिलता से बचाते हैं। अर्थात् वे व्यक्ति को उस समाज हित अथवा राष्ट्र हित के लिए कर्त्तव्यों का पालक मानते हैं। कानूनी कर्त्तव्य सबके लिए समान रूप से लागू होते हैं। वास्तव में यह एक व्यवस्था

है। व्यक्ति अनेक चित्त वाला होता है। रुचि भेद, विचार भेद, स्वभाव भेद सभी व्यक्तियों में लगभग पाया जाता है। ऐसे में व्यक्तियों को एक सूत्र में बांधना भी आवश्यक है। ऐसे में व्यक्ति के कर्म भी भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में वह किसी का अहित न करे और शांतिपूर्ण ढंग से रहे—कानूनी कर्त्तव्य उसे मार्गदर्शक तत्त्वों के रूप में सहायक होते हैं। अर्थात् वे व्यक्ति को बुराई से बचाते हैं। बुरे का परिणाम बुरा होता है—यह कानूनी कर्त्तव्य सिखाते हैं। अत: व्यक्ति को स्व-हित तथा समाज-हित में कानूनी कर्त्तव्यों का पालन करना होता है।

7.2 नैतिक कर्त्तव्य

नैतिक कर्त्तव्य वे कर्त्तव्य हैं जिनका उपयोग व्यक्ति स्वयं तथा समूह के हितों के लिए करता है। इन कर्त्तव्यों का संबंध कानून से नहीं होता है। कोई व्यक्ति अपने जीवन में कितनी पवित्रता रखता है अथवा ईश्वर को कितना मानता है आदि उसके वैयक्तिक इच्छा पर निर्भर करते हैं। इसी प्रकार पूजा-पाठ करना, स्वाध्याय करना अथवा स्वच्छता रखना आदि व्यक्ति की इच्छा अथवा रुचि के आधार पर होते हैं। अत: इसके लिए किसी को कानूनी तौर से बाध्य नहीं किया जा सकता है। हां! इतना अवश्य है कि यदि व्यक्तिगत रुचि अथवा इच्छा समाज अथवा राष्ट्र के लिए समस्या पैदा करे तो निषेध है। अपनी रुचि अथवा अपनी इच्छा अपने तक सीमित हो सकती है लेकिन किसी को बाध्य करना या किसी पर आक्षेप लगाना—यह निषेधात्मक पक्ष है साथ ही वर्जित भी है। नैतिक कर्त्तव्य वास्तव में व्यक्ति को सद्मार्ग दिखाते हैं। इन्हें व्यक्ति अपनी इच्छानुसार स्वीकार करता है। व्यक्ति जब इच्छा से किसी वस्तु अथवा पदार्थ का चुनाव करता है तो इसमें वह हित-अहित का भी ध्यान रखता ही है। व्यक्ति के भीतर मानवीय चेतना भी रहती है, सामाजिक प्रतिष्ठा का भाव उसके भीतर रहता है। इसलिए वह इन कर्त्तव्यों का पालन प्रसन्नता से करता है। ऐसा नहीं है कि व्यक्तियों में यह गुण समान रूप से पाया जाता है पर इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि अपने जीवन में किसी-न-किसी अंश में नैतिक कर्त्तव्यों का पालन करता ही है। सहयोग, करुणा, परोपकार, मैत्री आदि व्यवहार में देखे जा सकते हैं। अत: नैतिक कर्त्तव्य व्यक्ति को सुखी जीवन जीने के लिए आवश्यक भी हैं। एक सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति में इनका होना आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है।

उपरोक्त तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि कर्त्तव्य वास्तव में व्यक्ति को एक सद्मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं। उसे एक मर्यादा में रखकर व्यवहार करने को प्रेरित करते हैं। इसी में व्यक्ति तथा समाज का हित है। व्यक्ति भले ही कितना ही बुद्धिजीवी क्यों न हो, उसके भीतर भी पाशविक मस्तिष्क विद्यमान रहता है। जब तक इसका पूरी तरह से परिष्कार नहीं हो जाता है, इसके सक्रिय होने की संभावना बनी रहती है। अत: कर्त्तव्य व्यक्ति को संगठित रखते हैं और इस पशुता पर अंकुश रखते हैं। एक सदाचारी जीवन जीने के लिए बाध्य करते हैं और प्रेरित भी करते हैं। व्यक्ति के जीवन के जितने भी क्षेत्र हैं—कर्त्तव्य वहां तक फैले हुए हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कर्त्तव्य व्यक्ति पर सकारात्मक रूप में नियंत्रण रखकर सदैव सुख एवं शांति का जीवन प्रदान करते हैं।

8.0 स्वावलम्बन

समाज में परस्परावलंबन है। यह व्यक्ति की बाध्यता है कि इसको छोड़ भी नहीं सकता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अनावश्यक रूप से किसी का सहारा नहीं लेना चाहिए अथवा किसी पर आश्रित होने की प्रवृत्ति से हमेशा बचना चाहिए। समाज में परस्परावलंबन की बात आती है तो इससे व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्यशील होता है। केवल आलंबन लेकर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति से समाज में बहुत बड़ा कार्य नहीं हो सकता है। अमरबेल हमेशा दूसरे वृक्षों के सहारे ही आगे बढ़ती है। उसका परिणाम यह होता है कि वह वृक्ष अपना विकास नहीं कर पाता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति यदि अपना सहारा लेकर आगे बढ़े तथा अपनी क्षमताओं को बढ़ाए तो वह सबके ही हित में है। परिवार का मुखिया कमाता है, परिवार उस पर आश्रित है लेकिन जब मुखिया बूढ़ा हो जाता है अथवा वह कमाने में असमर्थ है और परिवार के लोग निकम्मे हो तो उस परिवार की दशा सही नहीं हो सकती है। परिवार के अन्य सदस्य भी स्वावलंबी होते हैं तो परिवार सशक्त बन जाता है। यही बात जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होती है। अत: स्वावलम्बन को सही अर्थों में व्यवहार का अंग बनाना चाहिए।

8.1 स्वावलम्बन का स्वरूप

स्वालंबन दो शब्दों से मिलकर बना है-स्व + आलंबन। अर्थात् स्वयं का आलंबन, स्वयं का सहारा। स्वावलम्बन एक ऐसा मूल्य है जो व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाता है, शक्ति सम्पन्न बनाता है और पुरुषार्थी बनाता है। वास्तव में स्वावलम्बन का

जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे किसी भी दृष्टि से नकारा नहीं जा सकता है। स्वावलम्बन व्यक्ति-व्यक्ति की परस्पर निर्भरता को कम करता है और एक-दूसरे के प्रति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहयोग को बढ़ावा मिलता है। सहयोग का क्षेत्र परिवार, समाज, राष्ट्र आदि कोई भी हो सकता है। स्वालंबन में रचनात्मकता का गुण पाया जाता है। साथ ही कर्त्तव्य भावना विद्यमान रहती है। स्वावलम्बन जैसे मूल्य के होने से व्यक्ति में अनेकानेक गुणों का समावेश स्वत: पाया जाता है। स्वावलम्बन में यह विशेषता पाई जाती है कि व्यक्ति अपनी ऊर्जा को सकारात्मक कार्यों में लगाता है। इससे वह अपने लिए आवश्यक वस्तुओं को ही नहीं जुटाता है अपितु सुख एवं शांति को भी प्राप्त होता है। सुखी एवं सफल जीवन के लिए स्वावलम्बन आवश्यक है। इससे व्यक्ति अपनी उपयोगिता को बनाए रखता है। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी रूप से उपयोगी अवश्य होता ही है। उपयोगिता का क्षेत्र शिक्षा, चिकित्सा आदि हो सकता है। अत: व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार अपनी उपयोगिता को बनाए रखे तो वास्तव में वह जीवन को सुखद बना सकेगा।

8.2 स्वावलम्बन का परिणाम

स्वावलम्बन का उपयोग व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए ही समान रूप से है। व्यक्ति जहाँ स्वावलम्बन से अपनी उपयोगिता को सिद्ध करता है, प्रसन्नता का अनुभव करता है, वहीं सामाजिक स्तर पर इसका स्वरूप व्यापक हो जाता है। समाज सदैव एकांगी विचारधारा से ही नहीं चलता है अपितु अनेकान्तिक विचारधारा से चलता है। समाज में अधिकाधिक स्वावलम्बन होने से सामाजिक शक्ति का सही उपयोग हो सकेगा। स्वाबलंबन के महत्त्व को निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

1. अपराधों का अल्पीकरण

स्वालंबन से अपराधों में कमी आ सकेगी। अपराधों के अनेक कारणों में एक प्रमुख कारण निर्धनता अथवा गरीबी है। अत: स्वावलंबन से निर्धनता जैसी समस्याओं का समाधान हो सकेगा जो जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी है। इसी के रहते हुए व्यक्ति अनेक अपराध करता है। दूसरों के सहारे जीने वाला अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति न हो पाने के कारण मानसिक रूप से अनेक समस्याओं का शिकार हो सकता है जिससे उसकी मन:स्थिति अपराध जैसे कार्यों की ओर प्रवृत होगी। परावलंबी व्यक्ति येनकेन प्रकारेण अपनी इच्छाओं की पूर्ति करवाने के लिए भी आपराधिक कार्यों का सहारा लेने में भी संकोच का अनुभव नहीं कर सकेगा। दूसरी ओर परावलंबी व्यक्ति दूसरों के बल पर भोग और विलास का जीवनयापन करता है। वह श्रमशील व्यक्तियों का शोषण करता है। इसीलिए वह जोंक की तरह शोषितों के , गरीबों के, उत्पीड़ितों और प्राताड़ितों का रक्तपान करता है। अत: इससे स्पष्ट है कि परावलंबन वास्तव में सामाजिक अपराधों को जन्म देता है। इसके विपरीत स्वावलंबन व्यक्ति को अपने कर्तव्य के प्रति प्रेरित करता है। स्वावलंबन नैतिक जीवन की पहली शर्त है क्योंकि स्वावलंबी व्यक्ति परिग्रही नहीं अपरिग्रही होता है, भोगी नहीं योगी होता है, अहंकारी नहीं विनयशील होता है। अत: ऐसे व्यक्तित्व का संबंध अपराधों से नहीं परोपकार से होता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वावलंबन को अपने जीवन में महत्त्व दे तो वास्तव में समाज में बढ़ते अपराधों को खत्म किया जा सकता है। स्वावलंबन से सामाजिक सुरक्षा की भावना बनी रहती है। अत: सामाजिक स्तर पर व्यक्ति सुख-चैन पूर्वक जीवन जी सकता है।

2. क्षमताओं का समुचित उपयोग

जीवन के अनेक कार्य-क्षेत्र हैं। प्रत्येक कार्यक्षेत्र पुरुषार्थ मांगते हैं। पुरुषार्थ से ही व्यक्ति उन क्षेत्रों में सफल हो सकता है। अत: स्वावलम्बन के द्वारा व्यक्ति किसी का मुंह नहीं ताकेगा। अर्थात् वह दूसरो पर ही निर्भर नहीं रह पाएगा और अपनी क्षमता का उचित उपयोग कर सकेगा। इससे उसमें उत्साह की भावना बनी रहेगी। यह उत्साह की भावना व्यक्ति के भीतर छिपी हुई शक्तियों को प्रस्फुटित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकेगी। वास्तव में उत्साह व्यक्ति के भीतर शक्ति का संचार करने का महत्त्वपूर्ण साधन है। व्यक्ति के ळीतर में अनंत क्षमताए विद्यमान रहती हैं। यदि उन्हें उभरेने का मौका न मिले तो उनका कोई उपयोग नहीं हो पाता है। स्वावलंबन के द्वारा व्यक्ति उन क्षमताओं का, उन शक्तियों का समुचित उपयोग कर सफलता को प्राप्त करता है।

3. पारस्परिक सौहार्द में वृद्धि

यह सत्य भी है कि स्वालंबन प्रत्येक व्यक्ति के भीतर सौहार्द भाव को बढ़ाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी क्षमता, अपनी-अपनी शक्तियों का समुचित उपयोग करता है तो इससे परावलंबन की समस्या का स्वत: समाधान हो सकेगा। चाहे पारिवारिक कलह की समस्या हो अथवा व्यावसायिक जीवन अथवा अन्य कोई क्षेत्र क्यों न हो, परावलंबन आपसी संबंधों में कटता का जहर घोल देता है। जब व्यक्ति सक्षम होते हुए भी दूसरों पर निर्भर रहते हैं तो यह समस्या का कारण बनता है। यदि व्यक्ति स्वालंबन को जीवन में महत्त्व देता है तो पारस्परिक सौहार्द में वृद्धि होती है।

4. राष्ट्रीय प्रगति

स्वालंबन राष्ट्र की प्रगति का आधार स्तंभ है। यदि राष्ट्र के नागरिक अधिकाधिक स्वावलंबी होंगे तो वह राष्ट्र निरंतर प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा। यह स्पष्ट है कि बिना पुरुषार्थ के सफलता का वरण नहीं किया जा सकता है, प्रगति नहीं की जा सकती है। स्वावलंबन एक ऐसा महत्त्वपूर्ण मूल्य है जो व्यक्तियों के निस्तेज धमनियों में रक्त का संचार कर व्यक्ति को प्राणवान बनाने में सफल होता है। प्राणवान व्यक्ति असंभव को भी संभव कर देता है। अत: जिस राष्ट्र में ऐसे स्वाभिमानी, स्वालंबी नागरिक होगें, वह राष्ट्र प्रगति कर सकेगा।

5. अच्छे स्वास्थ्य की प्राप्ति

जीवन की सफलता के लिए अच्छे स्वास्थ्य का होना नितांत आवश्यक है। स्वालंबन व्यक्ति को स्वस्थता प्राप्त करने भी सहायक होता है। परावलंबी व्यक्ति शारीरिक स्वास्थ्य को खोता ही है साथ ही मानसिक स्वास्थ्य पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। कहा गया है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। क्रियाशील व्यक्ति वास्तव में अपने स्वास्थ्य लाभ को प्राप्त करता है। अत: अच्छे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है स्वावलंबन। इसकी उपयोगिता वही समझ सकता है जो स्वावलंबन के द्वारा स्वास्थ्य लाभ को भी प्राप्त करता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्वावलम्बन व्यक्ति के वैयक्तिक, सामाजिक एवं पेशेवर कार्यक्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी स्वावलम्बन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्रत्येक राष्ट्र की आत्मनिर्भरता उस राष्ट्र के लिए तो गौरव का विषय है, साथ ही ऐसी स्थिति में दूसरे राष्ट्रों पर अनावश्यक निर्भरता को टाला जा सकता है। यदि प्रत्येक राष्ट्र अपने आप में सम्पन्न है तो वैश्विक स्तर की समस्याओं का समाधान भी स्वत: हो जाता है। अत: कहा जा सकता है कि स्वावलम्बन वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके महत्त्व को किसी भी दृष्टि से सकारात्मक रूप में ही देखा जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वावलम्बन वास्तव में व्यक्ति को उसकी योग्यताओं से परिचित करवाता है, उन्हें विकसित करने में सहायक होता है। यों तो व्यक्ति में अनेक क्षमताएँ होती हैं। कुछ क्षमताएँ सुप्तावस्था रहती हैं। स्वावलम्बन जैसे मूल्यों से उन क्षमताओं को जागृत किया जा सकता है, उन्हें पहचाना जा सकता है और जीवन-विकास तथा समाज विकास में उनका उपयोग किया जा सकता है।

सारांश

व्यक्ति के व्यवहार का दर्पण उसका व्यवहार होता है। जिस व्यवहार में जितनी मधुरता, सरलता, मैत्री, करुणा आदि भाव प्रकट होते हैं, वह व्यवहार उतना ही अधिक प्रभावकारी होता है। अत: व्यवहार का परिष्कार आवश्यक समझा जाता है। व्यवहार में मूल्यों को प्रतिष्ठित करने के लिए जीवन विज्ञान की शिक्षा प्रयासरत है। इसी प्रयास में अनुप्रेक्षाओं का भी विशेष महत्त्व है। अनुप्रेक्षा में सुझावों के माध्यम से स्वयं को भावित कर मूल्यों को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

अनुप्रेक्षा का अर्थ

अनप्रेक्षा का अर्थ है—ध्यान में जो सत्य देखा, उसके परिणामों पर विचार करना।

प्रयोजन—अनुप्रेक्षा के अनेक प्रयोजन हैं—सत्य की सतत स्मृति, सत्य का उपयोग, वैचारिक पवित्रता, वैचारिक शुद्धता, वृत्तियों से सुरक्षा, समस्या-समाधान एवं लक्ष्य-प्राप्ति आदि।

वैज्ञानिक आधार—अनुप्रेक्षा सुझाव चिकित्सा है। इसके द्वारा अचेतन को परिष्कृत किया जा सकता है, साथ ही कोशिकाओं को प्रशिक्षित किया जाता है। उन केन्द्रों को प्रशिक्षित किया जाता है, जो व्यवहार परिवर्तन हेतु जिम्मेदार हैं।

आध्यात्मिक आधार—अनुप्रेक्षा सत्य के खोज की, मूर्च्छा निवारण की, ध्यान की योग्यता बढ़ाने आदि की प्रक्रिया है।

निष्पत्तियां—अनुप्रेक्षा की निम्न निष्पत्तियाँ हैं—चित्त शुद्धि, समाधि की उपलब्धि, समस्या- समाधान, संस्कार-निर्माण आदि।

सामाजिक मूल्य—

व्यक्ति जिस समाज में रहता है। उसमें कुछ मानक होते हैं, कुछ निर्धारक तत्त्व होते हैं जो सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। यों तो सामाजिक मूल्य अनेक हैं पर प्रस्तुत पाठ में दो मूल्यों पर विचार किया गया है। ये निम्न हैं—

1. कर्त्तव्यनिष्ठा—कर्त्तव्यनिष्ठा का अर्थ है कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा रखना, कर्त्तव्य के प्रति समर्पण रखना। कर्त्तव्य दो प्रकार के हैं—कानूनी कर्त्तव्य और नैतिक कर्त्तव्य। कानूनी कर्त्तव्यों का पालन कानून द्वारा करवाया जाता है तो नैतिक कर्त्तव्यों का पालन व्यक्ति अपनी इच्छा से करता है।

2. स्वावलम्बन—स्वावलम्बन का अर्थ है स्वयं का आलम्बन लेना अर्थात् आत्म-निर्भरता। आत्मनिर्भरता व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए आवश्यक है। इसके द्वारा व्यक्ति अपनी क्षमताओं का उपयोग कर सकता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी होता है तो वह समाज प्रगति के पथ पर अग्रसर होता है। इसी में राष्ट्र का हित भी निहित है।

प्रश्नावली

1. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अनुप्रेक्षा का प्रयोजन बताइए।
2. अनुप्रेक्षा की निष्पत्तियां बताइए।

2. निबंधात्मक प्रश्न

1. अनुप्रेक्षा का वैज्ञानिक और आध्यात्मिक आधार स्पष्ट कीजिए।

इकाई–4– मूल्य प्रशिक्षण–1

पाठ–8– सामूहिक मूल्य

रूपरेखा

1.0 समन्वय

1.1 समन्वय का स्वरूप

1.2 समन्वय के सूत्र

1.3 समन्वय के परिणाम

1.4 समन्वय की अनुप्रेक्षा

2.0 सम्प्रदाय निरपेक्षता

2.1 सम्प्रदाय का स्वरूप

2.2 साम्प्रदायिक उन्माद के कारण

2.3 साम्प्रदायिक उन्माद निराकरण के उपाय

2.4 साम्प्रदायिक निरपेक्षता का परिणाम

2.5 सम्प्रदाय निरपेक्षता की अनुप्रेक्षा

3.0 मानवीय एकता

3.1 मानवीय एकता का सुपरिणाम

3.2 मानवीय एकता की शिक्षा

3.3 मानवीय एकता की अनुप्रेक्षा

4.0 सारांश

उद्देश्य

इस पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. समन्वय का स्वरूप तथा अन्य जानकारी को प्राप्त किया जा सकता है।
2. सम्प्रदाय निरपेक्षता को समझा जा सकता है।
3. मानवीय एकता से संबंधित जानकारी को प्राप्त किया जा सकता है।

भूमिका

व्यक्ति अकेला नहीं रहता है, समूह में रहता है। वह समाज में रहता है। अत: उसमें रहने के लिए भी व्यक्ति में ऐसे गुण होने चाहिए, जिससे वह उस समूह का सदस्य बना रहे। सामान्यतया समूह में समान आचार-विचार के व्यक्ति रहते हैं। न वहां जातीयता आड़े आती है, न सम्प्रदाय, न क्षेत्रवाद आदि। अर्थात् समूह आपसी संबंधों पर टिकते हैं। जहां आपसी संबंध सुदृढ़ होते हैं वहां व्यक्ति की सोच सकारात्मक दिशा में कार्य करती है। समूह से संगठन बनता है। इसलिए सामूहिक एकता जितनी अधिाक होगी, संगठन भी उतना ही शक्तिशाली होगा। कहा जाता है कि संगठन में ही शक्ति होती है। यों तो समूह चोरों, लुटेरों, अपराधियों का भी होता है लेकिन वह समूह समाज के लिए उपयोगी नहीं है। समाज के लिए वह होता है जिसमें समाज के उत्थान एवं सामाजिक एकता के गुण विद्यमान हों। परिवार भी व्यक्तियों का समूह है। अत: पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में यदि मूल्य न हों तो परिवार नरक बन जाता है। इसी प्रकार परिवारों का समूह ही समाज बनता है। इसलिए व्यक्ति के मूल्यों का और अधिक विस्तार होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि व्यक्ति सामूहिक मूल्यों को महत्त्व देगा तो इससे जातीय समस्या, रंगभेद की समस्या आदि को कम किया जा सकेगा।

1.0 समन्वय

अनेकान्त दर्शन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—समन्वय। समन्वय में समान आचार-विचार नहीं वरन् विरोधी आचार-विचार मिलकर एक साथ रहते हैं। एकता के लिए आवश्यक है कि विपरीत हितों का सामंजस्य। अर्थात् एकता तभी कायम रह सकती है जब सभी विचारों का समन्वय हो, सामंजस्य हो। एक व्यक्ति अपने विचार को सही मानता है लेकिन उसका विचार तभी सही हो सकता है जब दूसरों के विचारों के साथ वह समन्वय स्थापित करता है।

व्यक्ति जिसे सही कहता है अथवा गलत कहता है, यह उसका नितांत व्यक्तिगत मत है। यदि सभी का एक मत है तो उस बात को अथवा विचार को बल मिलता है। व्यक्ति अकेला नहीं है। इसलिए उसी के विचार सर्वमान्य नहीं हो सकते हैं। यदि विचारों का समन्वय होगा तो प्रत्येक व्यक्ति के अमूल्य विचारों को बल मिलेगा क्योंकि प्रत्येक विचार एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं और इसी आधार पर एक निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। इसी वैचारिक एकता के आधार पर समाज की व्यवस्था सुदृढ़ होती है।

1.1 समन्वय का स्वरूप

प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ से बंधा है। इस स्वार्थ की पूर्ति वह अकेले कर नहीं सकता है। स्वार्थपूर्ति हेतु दूसरों का सहयोग, दूसरों का समन्वय आवश्यक है। सामान्यतया समन्वय वैचारिक एकता है। वैचारिक एकता से व्यक्ति कठिन से कठिन कार्यों को भी सरल बना लेता है। प्रत्येक व्यक्ति रंग, रूप, स्वभाव, व्यवहार आदि में एक-दूसरे से भिन्न है। व्यक्ति की कुछ वृत्तियां समान होते हुए भी कई वृत्तियां असमान भी हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति एक नहीं अनेक है। अर्थात् समानता की दृष्टि से एक है लेकिन असमानता की दृष्टि से अनेक है। इसलिए इस अनेकता को भी एकता में परिवर्तन करने हेतु व्यक्तियों को एक बिन्दु पर आकर ठहरना ही होगा अथवा एकमत होना ही पड़ेगा जहाँ सबकी बात रहते हुए कोई क्रियान्विति हो सके। अन्यथा एक ही बात पर अनेक विचार होने से अपनी ढपली और अपना राग वाली उक्ति चरितार्थ हो जाएगी। इसलिए वैचारिक एकता व्यक्तियों को एक बिन्दु पर एकत्रित करती है। एक विचार पर सहमत होने में सहयोग करती है। अत: यह स्पष्ट है कि समन्वय वैचारिक एकता का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। जहां वैचारिक एकता होती है, वहां कोई आडम्बर नहीं होता है वहां कोई सन्देह नहीं होता है वरन् विश्वास होता है। विश्वास बहुत बड़ी शक्ति होती है। सामूहिक जीवन में ही समन्वय का उपयोग है। अकेले में तो व्यक्ति स्वतंत्र है। उसके अपने विचार हैं, अपनी मान्यताएँ हैं, अपने सिद्धान्त हैं। जहाँ वह समाज का सदस्य बन जाता है वहां उसका अपना विचार, अपने सिद्धांत, अपनी मान्यताएँ ही सब कुछ नहीं हैं वरन् व्यक्तियों की सहमति भी उसमें आवश्यक है। तभी व्यक्ति अपने जीवन विकास की यात्रा प्रारंभ कर सकता है।

1.2 समन्वय के सूत्र

समन्वय के निम्न सूत्र प्रमुख हैं—

1. दूसरे विचारों के प्रति सहिष्णुता रखना।
2. पारस्परिक सौहार्द की भावना।
3. दूसरों को भी महत्त्व देना।
4. अहंकार का त्याग करना।
5. उदारतावादी दृष्टिकोण रखना।
6. तुच्छ स्वार्थों का त्याग करना।
7. मानवीय एकता में विश्वास रखना।
8. सर्वहित को प्रमुख स्थान देना।
9. आत्मानुशासन।
10. सकारात्मक दृष्टिकोण।

1.3 समन्वय का परिणाम

इस संसार में व्यक्ति एक स्वतंत्र सत्ता है। इस सत्य को काटा नहीं जा सकता है। यह सत्य तो है पर निश्चय नय की दृष्टि के आधार पर है। व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति अकेला नहीं है क्योंकि उसका परिवार है, समाज है, राष्ट्र है। अत: वह सामाजिक प्राणी है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थों से बंधा है तो उसकी पूर्ति का आधार समाज है। इसलिए समाज में आपसी समन्वय होना नितांत आवश्यक है। इसी के द्वारा व्यक्ति तथा समाज सुखी रह पाएंगे। अत: समन्वय के परिणाम को निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

1. समन्वय से आत्मविश्वास में वृद्धि होती है।
2. पारस्परिक सौहार्द में वृद्धि होती है।
3. शक्ति का सही दिशा में उपयोग होता है।
4. समय की बचत होती है।
5. लक्ष्य प्राप्ति होती है।
6. अनेक संभावनाएँ और उभरती हैं।

7. अटूट संबंध स्थापित होते हैं।
8. विकास को नई दिशा मिलती है।
9. सुख-शांति का वातावरण निर्मित होता है।

1.4 समन्वय की अनुप्रेक्षा

समन्वय की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. लयबद्ध दीर्घश्वास — 5 मिनट
3. भस्त्रिका — 5 मिनट
4. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
5. संकल्प — 15 मिनट

(5 मिनट उच्चारण पूर्वक, 5 मिनट मन्द उच्चारण, 5 मिनट मानसिक अनुचिंतन)
चित्त को दर्शन-केन्द्र पर केन्द्रित कर संकल्प करें—''मैं विरोधी बातों और घटनाओं में संबंध खोजने का प्रयत्न करूंगा। मैं सर्वांगीण दृष्टि का प्रयोग करूंगा।''

6. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग को सम्पन्न करें।

2.0 सम्प्रदाय निरपेक्षता

धर्म जीवन का शाश्वत मूल्य है। यह एक सार्वभौम सत्ता है। धर्म एक अखण्ड चेतना है जिसे विभक्त नहीं किया जाता है। इस धर्म की रक्षा के लिए एक बाड़ अवश्य लगायी जाती है जिसे सम्प्रदाय कहते हैं। सम्प्रदाय अनेक हैं लेकिन धर्म एक है। कहने का तात्पर्य है कि मानव धर्म एक है। उसका आचार पक्ष भले ही शिक्षा हो, मंजिल सबकी एक है। भले ही रास्ते भिन्न-भिन्न हों। अत: सम्प्रदाय का भी अपना विशेष महत्त्व है। सम्प्रदायों की भिन्नता का कारण भी यही रहा है कि भिन्न-भिन्न परम्पराएँ हैं, रीति-रिवाज हैं तथा मान्यताएँ हैं। इसलिए सभी सम्प्रदायों में अपनी-अपनी परम्पराओं की आचार-व्यवस्था का नियमन होता है।

2.1 सम्प्रदाय का स्वरूप

सम्प्रदाय शब्द सम्+प्रदाय से मिलकर बना है जिसका अर्थ है—सम्यक् रूप से ज्ञान-विज्ञान को प्रदान करने वाली संस्था। इसी प्रकार सम्प्रदाय निरपेक्षता का अर्थ है साम्प्रदायिक सौहार्द, एक-दूसरे सम्प्रदाय के प्रति आदर का भाव। यही मानव का कर्त्तव्य है। कोई सम्प्रदाय न छोटा है, न बड़ा। सब बराबर हैं।

सम्प्रदाय अपने आप में कोई संरचना नहीं है। इसका कोई आकार-प्रकार भी नहीं है। यह तो एक संवाहक है अथवा एक प्रेरक है जिसका संबंध व्यक्तियों की आत्म-साधना से है। अर्थात् सम्प्रदाय सामूहिक रूप से आत्म-साधना का प्रेरक तत्त्व है। यों तो प्रत्येक व्यक्ति भी स्वयं में एक सम्प्रदाय है क्योंकि उसके भीतर धर्म है। इसी प्रकार व्यक्ति व्यक्ति की चेतना मिलकर सामूहिक चेतना बन जाती है। सम्प्रदाय भी इसी का रूप है। सम्प्रदाय में व्यक्ति का एक विश्वास होता है, एक विचार होता है। ये विश्वास और विचार ही व्यक्ति के भीतर एक संस्कार पैदा कर देते हैं। व्यक्ति इन्हीं संस्कारों के अनुरूप आचरण करता है। यहां तक बात सही है लेकिन जब ये विचार, ये संस्कार रूढ़ बन जाते हैं तब समस्या पैदा होती है। इस रूढ़िवादिता के कारण एक-दूसरे सम्प्रदायों के प्रति अनादर का भाव दृष्टिगोचर होता है।

भारत देश धर्म प्रधान देश है। यहां पर अनेक सम्प्रदाय देखने को मिलते हैं। जैसे—हिन्दू सम्प्रदाय, सिख सम्प्रदाय, जैन सम्प्रदाय, बौद्ध सम्प्रदाय, मुस्लिम सम्प्रदाय आदि-आदि। भारत जैसे देश में इतने सम्प्रदायों का मिलना वास्तव में प्रसन्नता की बात है। शायद यहीं पर इतने अधिक सम्प्रदाय एक साथ रहते हैं। यह भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है—साम्प्रदायिक सद्भाव। कभी-कभी व्यक्ति अपनी तुच्छ इच्छाओं अथवा स्वार्थों के कारण दूसरे सम्प्रदाय के विचारों का अनादर करता है तो यह स्थिति अच्छी नहीं मानी जा सकती है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आप में महत्त्वपूर्ण होते हैं जो धर्म की अलख जगाकर व्यक्ति को सद्मार्ग की ओर ले जाते हैं। व्यक्तियों को बुराइयों से बचाकर, दु:खों से बचाकर सुख एवं शांति की ओर प्रेरित करते हैं। अत: इन्हें गलत नहीं माना जा सकता है। सम्प्रदाय का स्वरूप तभी तक सही रहता है जब तक ये कर्त्तव्य का पालन करते हैं और दूसरे सम्प्रदायों के प्रति आदर भाव रखते हैं, समभाव रखते हैं। अन्यथा सम्प्रदाय विकृत बनकर दूसरों का अहित करने में

नहीं चूकते हैं। इसलिए आवश्यक है कि विचार भेद, रुचि एवं स्वभाव भेद आदि भेदों में भी सर्वधर्म समभाव की भावना बनी रहे तभी धर्म की रक्षा हो सकेगी।

2.2 साम्प्रदायिक उन्माद के कारण

साम्प्रदायिक उन्माद के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें से कुछ मुख्य कारण हैं—

1. परंपरागत शत्रुता

भारतीय इतिहास का अवलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भारत आर्यों का देश था। यवनों ने आकर अपना स्थापत्य जमाया। मुसलमानों ने हिन्दुओं को मुसलमान बनाना प्रारम्भ किया। इसलिए हिन्दू-मुसलमानों में द्वेष की भावना पैदा हो गई। अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' का सूत्र अपनाया। तब इसका भी परिणाम यही हुआ कि हिन्दू और मुसलमान आपस में ही लड़ने लगे। अंग्रेजों ने अपनी जड़ें मजबूत करने के लिए पादरियों को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार एक पारस्परिक द्वेष की भावना को बढ़ावा मिला। यह द्वेष की भावना अनेक जघन्य कर्म कर डालती है। इसी प्रकार किसी अन्य तरह के परम्परागत द्वेष के कारण साम्प्रदायिक उन्माद को बढ़ावा मिलता है।

2. अपने धर्म को श्रेष्ठ मानना

धर्म एक होता है, भिन्न नहीं होता है। सम्प्रदाय भिन्न होते हैं लेकिन कई सम्प्रदाय अपने आप को धर्म मानते हैं अथवा अपने द्वारा चलाये गए धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इसी भावना से दूसरे धर्मावलम्बियों की निन्दा की जाती है। इससे असहिष्णुता की स्थिति पैदा हो जाती है और साम्प्रदायिक उन्माद को बढ़ावा मिलता है।

3. दोषपूर्ण नेतृत्व

नेतृत्व करने वाला व्यक्ति हमेशा ही बहुमुखी प्रतिभा का धनी होना चाहिए। अर्थात् उसमें ऐसे गुणों का होना आवश्यक है जो हर परिस्थिति में विवेक के साथ निर्णय ले, सही मार्गदर्शन करे। उनका दृष्टिकोण व्यापक हो। सम्प्रदाय जैसी संस्था का नेतृत्व तो एक सक्षम गुरु के हाथ में होना चाहिए अन्यथा सम्प्रदाय की दिशा तथा दशा दोनों ही शोचनीय देखी जा सकती हैं। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को नीचा दिखाने के लिए अथवा बदले की भावना से अनेक कुकृत्य करने में भी नहीं हिचकिचाते हैं। कहने का तात्पर्य है कि गलत नेतृत्व गलत ही परिणाम ला पाएगा। अत: ऐसा नेतृत्व साम्प्रदायिक उन्माद का कारण बनता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक उन्माद वास्तव में द्वेष का ही परिचायक है। जो व्यक्ति वास्तविक रूप से धार्मिक होगा, वहां द्वेष की भावना लेशमात्र भी नहीं होती है। इसीलिए कहा गया है कि धार्मिक होना भिन्न बात है और अनुयायी होना भिन्न है। जहां केवल अनुयायी होते हैं वहां इस प्रकार की घटनाएँ घटित होती हैं।

2.3 साम्प्रदायिक उन्माद निराकरण के उपाय

साम्प्रदायिक उन्माद को रोकने अथवा उसके निराकरण के अनेक उपाय हो सकते हैं—

1. प्रशासनिक स्तर पर कठोर उपाय होने चाहिए।
2. साम्प्रदायिक तत्त्वों की पहचान होने पर उनका भंडा-फोड़ होना चाहिए ताकि संदेह की स्थिति में जनता इनका साथ न दे सके।
3. शिक्षा-व्यवस्था में ऐसे तत्त्वों का समावेश हो जिससे विद्यार्थी को साम्प्रदायिक सौहार्द बनाए रख सकें।
4. सर्वत्र सर्वधर्म समभाव की भावना को प्रोत्साहित किया जाए।
5. सार्वजनिक क्षेत्र में कोई भी कार्यक्रम बहुत के आधार पर न हो जिससे अल्पसंख्यकों को बात बुरी न लगे।
6. सभी धर्मों के उत्सवों को मिल-जुल कर मनाने की प्रेरणा दी जाए।
7. विभिन्न सांस्कृतिक तथा धार्मिक उत्सवों पर सभी को सम्मिलित करना जिससे आपस में विचारों का आदान-प्रदान हो सके।
8. इनके अतिरिक्त भी कई अवसर ऐसे होते हैं जब एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय की अच्छाइयों को समझे। अत: ऐसे कार्यक्रमों का प्रयोजन भी हो।

2.4 सम्प्रदाय निरपेक्षता का परिणाम

1. सम्प्रदाय निरपेक्षता एक ऐसा मूल्य है जो सभी धर्मों के प्रति आदर भाव रखता है। यह मूल्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाता है, उसकी चेतना को विशुद्ध करता है, उसकी चेतना को परिष्कृत करता है।

2. भारतीय संविधान में भी धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति किसी भी धर्म का मतावलंबी हो सकता है। साथ ही भारतीय संस्कृति की विशेषताओं में भी सम्प्रदाय निरपेक्षता को भी महत्त्व दिया गया है। इसी सम्प्रदाय निरपेक्षता के कारण ही भारत में अनेक धर्मावलंबी एक साथ रहते हैं। एक-दूसरे का सम्मान करते हैं। इसी में व्यक्ति-व्यक्ति का हित निहित है।

3. ईश्वर एक है पर उसके रूप भिन्न हैं। इसमें कोई हर्ज नहीं कि कौन क्या माने। सब एक ही मार्ग पर चलते हैं। सहारा भिन्न है, साधन भिन्न है। मंजिल एक ही है। सभी धर्म-सत्य के अनुयायी हैं, अहिंसा के अनुयायी हैं। इसी प्रकार सभी धर्मों के अन्तर्गत जीवन की सही राह दिखाई गई है। अगला जन्म भी अच्छा हो—यहां तक की व्यापक सोच को आधार बनाया गया है। इससे व्यक्ति इस लोक तथा परलोक दोनों लोकों को सुधारता है। यह तभी संभव होता है जब प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्त्तव्य का सही पालन करता है, सभी धर्मों का सम्मान करते हुए आत्मशुद्धि की यात्रा करता है।

इस प्रकार सम्प्रदाय निरपेक्षता जैसे मूल्य का विकास प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। अत: शिक्षा में ऐसे तत्त्वों का अवश्य ही समावेश होना चाहिए। जीवन विज्ञान की शिक्षा में सम्प्रदाय निरपेक्षता जैसे मूल्यों को अनुप्रेक्षा के माध्यम से पुष्ट किया जाता है।

2.5 सम्प्रदाय निरपेक्षता की अनुप्रेक्षा

सम्प्रदाय निरपेक्षता की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. लयबद्ध दीर्घश्वास — 5 मिनट
3. भस्त्रिका — 5 मिनट
4. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
5. संकल्प — 15 मिनट

   (5 मिनट उच्चारण पूर्वक, 5 मिनट मन्द उच्चारण, 5 मिनट मानसिक अनुचिंतन)

   चित्त को आनन्द-केन्द्र पर केन्द्रित कर संकल्प करें—''मैं साम्प्रदायिक कट्टरता से बचूंगा। मैं विभिन्न मान्यताओं व सम्प्रदायों के प्रति सद्भावना का विकास करूंगा।''

6. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग को सम्पन्न करें।

बोध प्रश्न

---

1. अनेकांत दर्शन का महत्त्वपूर्ण सूत्र क्या है?
2. व्यक्ति किससे बंधा है?
3. जीवन का शाश्वत मूलय क्या है?
4. संपद्राय का क्या अर्थ है?
5. धार्मिक स्वतंत्रा क्या है?

3.0 मानवीय एकता

समाज की सुरक्षा का आधार है—एकता। पारस्परिक एकता में ही सुख एवं शांति निवास करती है। एकता के अभाव में कलह पैदा होता है। कलह अशांति की जड़ है। कहा गया है कि एकता में ही शक्ति होती है। यह सत्य भी है। व्यावहारिक रूप से देखा जाए तो जो शक्ति एकता में है, वह बिखराव में नहीं है। एकता व्यक्ति के विचारों की होती है, भावनाओं की होती है जिसमें सत्संकल्प विद्यमान रहता है। ऋग्वेद का भी कथन है कि मानव जाति एक है। भगवान् महावीर का भी यही कथन है

कि मनुष्य जाति एक है। वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा हमारी प्राचीन अवधारणा रही है। अथर्ववेद में कहा है कि समान हृदयता, समान मानसिकता, अप्रतिकूलता का मैं तुम लोगों के लिए सृजन करता हूँ। तुम एक दूसरे के साथ उसी प्रकार प्रीत प्रकट करो जैसे गौ अपने नवजात शिशु के लिए प्रकट करती है। कहने का तात्पर्य है कि एकता वास्तव में व्यक्ति की प्रीत से ही उदित होती है जो सर्वथा सुखद होती है। अत: एकता जीवन का पथ है जहां से अनेक सुपरिणाम प्राप्त होते हैं। कहा गया है कि संगठन ही शक्ति है। संगठन तभी बन सकता है, जब मानवीय एकता का दृढ़ आधार हो अन्यथा कोई भी संगठन अधिक समय तक टिकता ही नहीं है। मानवीय एकता व्यक्ति में सहयोग की भावना को पैदा करती है। परोपकार की भावना को पैदा करती है। साथ ही व्यक्ति अनेक समस्याओं का समाधान स्वत: ही कर लेते हैं।

3.1 मानवीय एकता का सुपरिणाम

मानवीय एकता के सुपरिणाम निम्न हैं—

1. मानवीय एकता मानव के अस्तितव का संवाहक है।
2. मानवीय एकता में तुच्छ स्वार्थों का अभाव रहता है।
3. मानवीय एकता में एक की नहीं अनेकता की भावना रहती है।
4. मानवीय एकता में शक्तियों का दुरुपयोग नहीं होता है।
5. मानवीय एकता प्रसन्नता, प्रोत्साहन जैसे गुणों की अभिवृद्धि करती है।
6. मानवीय एकता में व्यक्ति सहयोग भावना से सबको समर्थ बनाता है। अर्थात् असमर्थ को समर्थ बनाने की भावना निहित है।
7. परमार्थ चेतना सक्रिय रहती है।
8. मानवीय एकता में सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय की भावना सक्रिय रहती है।

3.2 मानवीय एकता की शिक्षा

मानव प्रकृति की सबसे सुन्दर कृति है। इसका कारण है कि इसके पास विकसित मन है, विकसित मस्तिष्क है जिसके कारण इसने अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है। साथ ही विकास की अनेक सीढ़ियों को पार किया है। अत: कहा जा सकता है कि मानव मस्तिष्क अनेक संभावनाओं को खोजने का महत्त्वपूर्ण साधन है। इसलिए इस मस्तिष्क को ऐसा प्रशिक्षण मिलना चाहिए जो सदैव मूल्यों से ओत-प्रोत रहे। मानवीय एकता की शिक्षा वास्तव में एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जिसके द्वारा अनेक मूल्यों का विकास स्वत: ही हो जाता है। मानवीय एकता की शिक्षा मानव के अस्तित्व के विकास की शिक्षा है। मानव अस्तित्व होने पर ही सारे अस्तित्वों की रक्षा हो सकती है। अत: मानवीय एकता एक मूल्य है जिसका पालन मानव जीवन में आवश्यक है। जीवन विज्ञान की शिक्षा मानवीय एकता की शिक्षा में विश्वास रखती है। इसीलिए शिक्षा के माध्यम से इसे संस्कार रूप में पुष्ट करने पर विचार हीं नहीं किया गया वरन् पूरी वैज्ञानिक प्रक्रिया भी प्रस्तुत की गई है। मानवीय एकता की अनुप्रेक्षा के द्वारा भी इस मूल्य को पुष्ट किया जा सकता है।

3.3 मानवीय एकता की अनुप्रेक्षा

मानवीय एकता की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. लयबद्ध दीर्घश्वास — 5 मिनट
3. भस्त्रिका — 5 मिनट
4. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
5. संकल्प — 15 मिनट
   (5 मिनट उच्चारण पूर्वक, 5 मिनट मन्द उच्चारण, 5 मिनट मानसिक अनुचिंतन)
   चित्त को विशुद्धि-केन्द्र पर केन्द्रित कर संकल्प करें—''मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा। मैं जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊंच-नीच नहीं मानूंगा।''
6. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग को सम्पन्न करें।

बोध प्रश्न

1. समाज की सुरक्षा का आधार क्या है?
2. मानवीय एकता किसकी भावना पैदा करती है?
3. मानवीय एकता में किसका अभाव रहता है
4. प्रकृति की सुंदर कृति क्या है?
5. अनेक संभावनाओं को खोजने का साधन क्या है?

सारांश

व्यक्ति अकेला नहीं, सामूहिक जीवन जीता है। सामूहिक जीवन जीने के लिए व्यक्ति में कुछ ऐसे मूल्य आवश्यक होते हैं, जो उसे समूह का सदस्य बनने में मदद करते हैं। जैसे—समन्वय, सम्प्रदाय निरपेक्षता मानवीय एकता आदि।

समन्वय—समन्वय में अनेक विपरीत विचार-धाराएँ संगठित रूप में रहती हैं। इसमें व्यक्ति समूह का स्वार्थ निहित रहता है।

समन्वय के सूत्र—समन्वय के निम्न सूत्र हैं—

दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखना, पारस्परिक सौहार्द की भावना, अहंकार का त्याग करना, मानवीय एकता में विश्वास करना, आत्मानुशासन रखना, सकारात्मक दृष्टिकोण आदि।

समन्वय का परिणाम—समन्वय से निम्न परिणाम परिलक्षित होते हैं—आत्म-विश्वास में वृद्धि, शक्ति का सही दिशा में उपयोग, समय का सदुपयोग, लक्ष्य प्राप्ति, सुख-शांति का वातावरण आदि।

सम्प्रदाय निरपेक्षता—सम्यक् रूप से ज्ञान-विज्ञान का आदान-प्रदान करने वाली संस्था सम्प्रदाय है। सम्प्रदाय का कोई मूर्त्त रूप नहीं होता है, आकार नहीं होता है। यह तो एक व्यवस्था है। सम्प्रदाय निरपेक्षता में सभी सम्प्रदाय अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं, न कोई छोटा है, न बड़ा। सभी सम्प्रदायों का मूल हार्द एक ही होता है।

साम्प्रदायिक उन्माद के कारण—साम्प्रदायिक उन्माद के निम्न कारण हैं—परंपरागत शत्रुता, अपने धर्म को श्रेष्ठ मानना, दोषपूर्ण नेतृत्व आदि।

साम्प्रदायिक उन्माद निराकरण के उपाय—साम्प्रदायिक उन्माद निराकरण के निम्न उपाय हैं—प्रशासनिक स्तर पर कठोर उपाय, शिक्षा व्यवस्था में मूल्यों का समावेश, सर्व-धर्म समभाव की भावना का प्रोत्साहन, सार्वजनिक कार्यक्रमों द्वारा प्रोत्साहन आदि।

सम्प्रदाय निरपेक्षता का महत्त्व—इससे सभी धर्मों को जानने, समझने का अवसर प्राप्त हो सकेगा। सर्वधर्म समभाव की भावना को प्रोत्साहन मिलेगा। साथ ही आपसी भाईचारा को बढ़ावा मिलेगा, जिससे सुख-चैनपूर्ण वातावरण निर्मित होगा।

मानवीय एकता—समाज की सुरक्षा का आधार है—एकता। एकता में ही शक्ति होती है। कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं हो सकता है। सभी की शक्तियां, क्षमताएँ अथवा योग्यताएँ ही जटिल कार्यों को अंजाम देती हैं। अत: मानवीय एकता सफल जीवन का आधार है।

मानवीय एकता के परिणाम—इसके कई सुपरिणाम हैं। जैसे—मानव अस्तित्व की सुरक्षा, अनेकता की भावना, शक्तियों का सदुपयोग, सहयोग की भावना, परमार्थ चेतना आदि।

प्रश्नावली

1. लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. समन्वय को समझाइए।
2. मानवीय एकता को स्पष्ट कीजिए।

निबंधात्मक प्रश्न

1. संप्रदाय निरपेक्षता का स्वरूप तथा इससे संबंधित महत्त्वपूर्ण तथ्यों को स्पष्ट कीजिए।

इकाई–5– मूल्य प्रशिक्षण–2

पाठ–9– मानसिक मूल्य

रूपरेखा

1.0 मानसिक संतुलन

2.0 धैर्य

3.0 प्रामाणिकता

4.0 करुणा

5.0 आत्मानुशासन

6.0 सह–अस्तित्व

7.0 सारांश

उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. मानसिक संतुलन को समझ सकेंगे।
2. मानसिक असंतुलन के कारणों तथा उनके उपायों को समझ सकेंगे।
3. धैर्य से संबंधित जानकारी को समझ सकेंगे।
4. प्रामाणिकता का अर्थ तथा उसके प्रकारों आदि को समझ सकेंगे।
5. करुणा के स्वरूप आदि को समझ सकेंगे।
6. आत्मानुशासन के विभिन्न पक्षों को समझ सकेंगे।
7. सह–अस्तित्व के महत्त्व को समझ सकेंगे।

भूमिका

मानसिक मूल्यों का संबंध मन से है। जीवन के तत्त्वों में मन अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मन के क्रियाकलाप विचित्र हैं। यह मित्र भी है तो यह शत्रु भी है। इसका स्वभाव चंचल है तो यह अमन की अवस्था को भी प्राप्त होता है। मन को छठी इन्द्रिय भी माना गया है। मन अदृश्य है, अमूर्त्त है। क्रियाकलापों के द्वारा इसको जाना जा सकता है। कहा गया है कि मन ही व्यक्ति के बंधन और मोक्ष का कारण बनता है। इससे स्पष्ट है कि वास्तव में मन अधम स्थिति की प्राप्ति कराता है तो यह उच्च अवस्था को भी प्राप्त होता है। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं कि मन स्वयं चेतन नहीं है पर यह चेतन का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर रहा है। मन का कार्य प्रत्यक्ष है। अर्थात् मन कार्य के द्वारा अथवा व्यवहार के द्वारा प्रकट होता है। अत: इस मन को प्रशिक्षित करके मनचाहा कार्य करवाया जा सकता है। मन का कार्य स्मृति, चिंतन और कल्पना है। इनका कितना उपयोग किया जाए, यह मानसिक मूल्यों के अन्तर्गत स्पष्ट होता है। मूल्य मानक हैं। ये व्यक्ति के निषेधात्मक व्यवहार को नियंत्रित करते हैं तो सकारात्मक व्यवहार को बढ़ाते हैं। अत: मानसिक मूल्यों का संबंध मन द्वारा संचालित क्रियाकलापों परआवश्यक नियंत्रण तथा सुख एवं शांति से है।

1.0 मानसिक मूल्य

1.1 मानसिक संतुलन

मानसिक संतुलन का अर्थ है—मन के क्रियाकलापों का संतुलन। संतुलित स्मृति, संतुलित चिन्तन तथा संतुलित कल्पना। संतुलन सफल जीवन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। भले ही जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, मानसिक संतुलन वैयक्तिक जीवन में महत्त्वपूर्ण है ही पर सामाजिक जीवन में भी इसका मूल्य है। मानसिक संतुलन व्यक्तित्व को विकसित करने में बहुत सहायक बनता है। मानसिक चंचलता अथवा मानसिक विक्षेप चित्त की शक्ति का ह्रास करते हैं। तब व्यक्ति का चिंतन उथल–पुथल हो जाता है। ऐसी दशा

में व्यक्तित्व भी विघटित होने लगता है। अत: यह किसी भी स्थिति में व्यक्ति के लिए हानिकारक है। मानसिक संतुलन विचारों का एक संगठित स्वरूप है जिसमें व्यक्ति हर परिस्थिति में संतुलित तथा प्रसन्न रहता है। यही उसकी सफलता के लिए निमित्त बनता है। यह नहीं कहा जा सकता है कि व्यक्ति के समक्ष सदैव एक-सी परिस्थिति रहे और सदैव वह एक-सा अनुभव करे-यह आवश्यक नहीं। परिस्थिति के साथ-साथ अनुभव भी बदलते हैं। यह भी सत्य ही है कि सदैव सुखद ही परिस्थितियां हों। जीवन सुख-दु:ख का संगम है। अत: जीवन को ये परिस्थितियां प्रभावित करती ही हैं। यह व्यक्ति की मानसिकता पर निर्भर है कि वह इन्हें कैसे ले। यदि व्यक्ति संतुलित है, आध्यात्मिक प्रवृत्ति का है तो वह इन परिस्थितियों को बिना दु:ख के भोगेगा अथवा उनका सामना करेगा। यदि मानसिकता आध्यात्मिक नहीं है, दु:ख के साथ ही भोग करेगा। कई बार ऐसा भी होता है कि व्यक्ति संतुलन रखना चाहता है, शांति रखना चाहता है लेकिन फिर भी वह ऐसा नहीं कर पाता है। वह समस्या नहीं चाहता है, फिर भी समस्याग्रस्त हो जाता है। इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि व्यक्ति को ज्ञात नहीं है कि उसका व्यवहार असंतुलित क्यों है? यदि व्यक्ति इन तथ्यों को समझ ले और इनका निराकरण करे तो वह एक स्वस्थ एवं संतुलित मानसिकता का धनी बन सकता है। यही जीवन की आवश्यकता है, अनिवार्यता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि व्यक्ति अनेक समस्याओं से आक्रांत है। कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जिन पर उसका नियंत्रण नहीं हो पाता है। वह प्रत्यक्ष उसके लिए जिम्मेदार नहीं है लेकिन कुछ समस्याओं का समाधान व्यक्ति स्वयं कर सकता है। वह उन्हें दूसरों के भरोसे क्यों छोड़ता है? अपने अस्तित्व का समीकरण, संतुलन और परिष्कार व्यक्ति के हाथ में है। अत: पूरे व्यक्तित्व को मांजने-संवारने का उपाय है—ध्यान-श्वास के प्रति जागरूक होना। जो इसका सतत अभ्यास करता है, उसे अवश्य अनुभूति होती है—आचरण और व्यवहार बदला है, दृष्टिकोण बदला है, जीवन सुखद और वरदान बना है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि मन क्यों टूटता है, मन में बेचैनी क्यों होती है, मन में डिप्रेशन क्यों होता है, मन क्यों सताता है, उसमें कमजोरियां क्यों आती हैं, उसमें भय क्यों उत्पन्न होता है आदि अनेक प्रश्न हैं। अत: इन समस्याओं से मुक्त होने के लिए हम वर्तमान को समझें, वर्तमान में जीएँ पर अतीत से कटकर नहीं। अतीत का परिष्कार करते चलें पर वर्तमान पर इतना बोझ न लादें कि वह टूट जाए। अत: इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि व्यक्ति का आचार-व्यवहार अतीत का ही परिणाम है। चाहे वे प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष, दृश्य हों अथवा अदृश्य। कुछ समस्याएँ वर्तमान से जुड़ी भी होती हैं लेकिन वे भी कभी अतीत ही बन जाती हैं। किसी घटना अथवा परिस्थिति के बाद ही वे व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। कारण तो अनेक हैं, उनकी सीमा नही है।

1.2 मानसिक असंतुलन के कारण

मानसिक असंतुलन के मुख्यतया वे कारण निम्न हैं जो सामान्यतया देखे जा सकते हैं—

1.2.1 असंतुलित भाव

भाव व्यवहार का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। भाव के आधार पर व्यवहार की प्रतीति होती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि मन बेचारा गधा है जो निरन्तर भार ढोता रहता है। भार लादने वाला कोई दूसरा है, वह है—भाव। जब तक हम भाव को नहीं समझेंगे तब तक मन की समस्याओं का समाधान नहीं पा सकेंगे। सभी मानसिक उलझनों तथा समस्याओं का मूल कारण है—भाव। भाव ही सारी समस्याएँ उत्पन्न करता है और उसको अभिव्यक्ति करवाता है मन के द्वारा। अत: सामाजिक समस्याओं से निपटने के लिए भाव को समझना नितान्त आवश्यक है। भाव हमारे व्यक्तित्व के गहनतम अन्तराल का स्रोत है। अत: सामान्य व्यक्ति की पहुंच वहां तक नहीं होती है।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि भाव सदैव ही खराब होते हैं। भाव अच्छे और बुरे दोनों ही होते हैं। यदि भाव बुरा ही होता है तो व्यक्ति का सारा व्यवहार ही बुरा होता लेकिन ऐसा भी नहीं है। दूसरी ओर यदि भाव अच्छा ही होता तो सारे अच्छे ही व्यक्ति होते लेकिन यह भी नहीं है। व्यक्ति का व्यवहार अच्छा और बुरा दोनों का मिश्रण है। इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि जो भाव अधिक सक्रिय होगा, वैसा ही व्यवहार होगा। यह बात सामान्य व्यक्तियों के लिए लागू होती है। यदि अति सामान्य अथवा आध्यात्मिक व्यक्तियों पर दृष्टिपात किया जाए तो उनका भाव सदैव सकारात्मक होता है तभी तो वे प्रसन्न चित्त रहते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भावों का असन्तुलन, भावों का अपरिष्कार मानसिक असन्तुलन का कारण बनता है। चाहे वे क्रोध के रूप में हों अथवा द्वेष के रूप में, ईर्ष्या के रूप में हों अथवा लोभ के रूप में। व्यक्ति इनके वशीभूत होकर व्यवहार करता

है। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से भाव का स्रोत है सूक्ष्म शरीर। यहीं से ये स्थूल शरीर में प्रकट होते हैं और शरीर, मन, वाणी पर अपना चैतन्य उड़ेल देते हैं। अत: आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि हमें भाव और सूक्ष्म शरीर को समझना है। यदि केवल मन के आविष्कार की बात सोचेंगे तो हाथ कुछ नहीं आएगा। हमें सारा ध्यान केन्द्रित करना है भाव संस्थान पर। भाव को केन्द्र में रखकर हमें ध्यान का प्रयोग करना है, हमें भाव का परिष्कार करना है।

1.2.2 आग्रही चिन्तन

व्यक्ति का चिंतन एकांगी होता है तो वह आग्रही बन जाता है। आग्रही चिन्तन व्यक्ति को अनेक संभावनाओं से च्युत कर देता है। यह अज्ञान का बहुत बड़ा कारण है। व्यक्ति के इस आग्रही व्यवहार से सभी सहमत हो जाएँ, ऐसा संभव नहीं है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। अत: उसका चिंतन अकेला ही काफी नहीं होता है लेकिन कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो अपनी ही बात को सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि मानते हैं। आग्रह के कारण व्यक्ति परिवार में समायोजन नहीं बना सकता है। उसका परिवार कलह-लड़ाई, झगड़ा तथा अलगाव तक में परिवर्तित हो जाता है। सबके विचार, सबका स्वभाव, सबका भाव अथवा सबकी योग्यताएँ समान नहीं होती हैं। समायोजन के लिए व्यक्ति का सभी के साथ तालमेल बिठाना होता है। परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने ही आग्रह पर अडिग रहे तो एक नहीं अनेक समस्याएँ पैदा होने की संभावनाएँ रहती हैं। यह सत्य भी है कि व्यक्ति का नकारात्मक आग्रह गलत ही होता है। आग्रह सही भी होता है। गांधीजी ने सत्याग्रह किया था। अर्थात् सत्य के लिए आग्रह किया था। सकारात्मक आग्रह हो, समस्याएँ पैदा नहीं होती हैं लेकिन नकारात्मक आग्रह समस्याएँ पैदा करता है। अत: इस प्रकार के आग्रह से व्यक्ति को बचना चाहिए।

1.2.3 अति उत्तेजना

किसी-किसी व्यक्ति का व्यवहार बहुत उत्तेजनापूर्ण होता है। थोड़ी-सी विषम परिस्थिति हुई कि व्यक्ति उत्तेजित हो जाता है। क्रोध इसका सटीक उदाहरण है। क्रोध से व्यक्ति को नुकसान होता है। हानिप्रद है, फिर भी व्यक्ति इस पर नियंत्रण नहीं रख पाता है। ऐसा नहीं है कि उसे इसका भान नहीं है, वह अवश्य ही है। यदि व्यक्ति बार-बार ऐसा व्यवहार करता है तो वह उसका स्वभाव बन जाता है। अत: ऐसे व्यक्ति का मानसिक संतुलन प्रभावित होता है। उत्तेजना चाहे शारीरिक कारणों से हो अथवा मानसिक कारणों से अथवा किसी अन्य कारण से हो पर व्यक्ति को इसका आभास होते ही इसे पकड़ लिया जाए अथवा समझा जाए तो व्यक्ति इस समस्या पर भी नियंत्रण पा सकता है। अति उत्तेजना से व्यक्ति तो प्रभावित होता ही है लेकिन उसका पारिवारिक, सामाजिक तथा व्यावसायिक क्षेत्र भी प्रभावित होता है। अत: इस पर नियंत्रण आवश्यक है।

1.2.4 नाड़ीतंत्र की दुर्बलता

वैज्ञानिक दृष्टि से नाड़ीतंत्र की दुर्बलता भी मानसिक असंतुलन का कारण बनती है। इस तंत्र में मुख्यतया अनुकंपी तंत्र और परानुकंपी तंत्र का असंतुलन व्यवहार को प्रभावित करता है। अनुकंपी की सक्रियता व्यक्ति को उत्तेजित करती है तो परानुकंपी की सक्रियता व्यक्ति को निष्क्रिय कर देती है। अर्थात् वह दब्बूपन का शिकार हो जाता है। संतुलित व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है इन दोनों तंत्रों का संतुलन। प्राय: इन दोनों का कार्य एक-दूसरे के विपरीत होता है। अनुकंपी के सक्रिय होने पर परानुकंपी उसके क्रिया-कलापों को शांत करती है। अन्यथा व्यक्ति उत्तेजना में ही रहे। इसके विपरीत यदि परानुकंपी अधिक सक्रिय रहती है तो व्यक्ति में निष्क्रियता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। यह भी व्यक्तित्व के लिए सही नहीं है। अत: दोनों का संतुलन आवश्यक है। यह संतुलन तभी संभव है जब नाड़ीतंत्र का संतुलन हो। इसके अतिरिक्त भी नाड़ी तंत्र के अन्तर्गत मस्तिष्क एवं सुषुम्ना सम्मिलित है। इनमें भी किसी प्रकार की कमी व्यवहार को असंतुलित बना देती है। अत: नाड़ीतंत्र की दुर्बलता भी मानसिक असंतुलन का कारण बनती है।

1.2.5 बीमारी

मानव शरीर आधि-व्याधि और उपाधि का केन्द्र बिन्दु है। अत: व्यक्ति इनसे हमेशा ही छुटकारा पा ले। यह भी संभव नहीं है। ये शरीर, मन और भावों की समस्याएँ व्यक्ति को बीमार बना देती हैं। यदि लम्बे समय तक व्यक्ति इनसे ग्रसित रहे तो उसका मानसिक पक्ष इससे प्रभावित होता है। शारीरिक बीमारी ही मानसिक बीमारी भी बन जाती है। मानसिक बीमारी के अन्तर्गत चिंता, कुण्ठा, अवसाद, भय, तनाव आदि अनेक प्रकार के जटिल व्यवहार देखे जा सकते हैं। भावात्मक बीमारी में क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि हैं जिससे व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को ही गंवा बैठता है। बीमारी की अवस्था में व्यक्ति अपने को हर परिस्थिति में असहाय

पाता है, उसका मनोबल कमजोर हो जाता है। अत: वह मानसिक संतुलन नहीं रख पाता है। आयुर्वेद के अनुसार वात्त, पित्त और कफ स्वास्थ्य के आधार हैं। इनका असंतुलन बीमारी पैदा करता है। वात का प्रकोप होने से अर्थात् वायु का प्रकोप होने से भय अधिक लगता है, कल्पनाएँ अधिक जागती हैं, पित्त का प्रकोप होने से क्रोध बढ़ता है और कफ का प्रकोप होने से तन्द्रा आती है। मन में शोक उत्पन्न हो जाता है। अत: वात्त, पित्त और कफ का असंतुलन भी शरीर, मन और भावों को प्रभावित करता है।

1.2.6 अति उत्तरदायित्व

कभी-कभी व्यक्ति के ऊपर बहुत से उत्तरदायित्व होते हैं तो वह मानसिक संतुलन नहीं बना पाता है। प्रत्येक व्यक्ति की क्षमताएँ समान नहीं होती हैं। अत: व्यक्ति पर आवश्यकता से अधिक बोझ समस्या का भी कारण बनता है। पारिवारिक उत्तरदायित्व, सामाजिक उत्तरदायित्व, व्यावसायिक उत्तरदायित्व एवं न जाने व्यक्ति अनेक उत्तरदायित्वों का निर्वहन करता है। कभी-कभी ऐसी भी स्थिति आती है कि ये व्यक्ति पर बोझ स्वरूप होती हैं। ऐसे में व्यक्ति मानसिक संतुलन नहीं बना पाता है। हताशा, निराशा, चिड़चिड़ापन, उत्तेजना अथवा अवसाद आदि का शिकार हो जाता है।

1.2.7 पक्षपात

एक बहुत बड़ी समस्या है—पक्षपात की। चाहे वह परिवार में, चाहे समाज में अथवा व्यावसायिक क्षेत्रों में—यह समस्या वास्तव में कभी-कभी विकराल बन जाती है। परिवार का मुखिया पारिवारिक सदस्यों के मध्य पक्षपात रखता है तो परिवार का विघटन हो जाता है। परिवार में कलह, अशांति पैदा हो जाती है। अलगाव आ जाता है। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में किसी व्यक्ति को अधिक महत्त्व देना, किसी को नकारना, यह भी सामाजिक समस्या का कारण बनता है। व्यावसायिक क्षेत्र में अधिकारी अपने कर्मचारियों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार करता है तो वे इससे प्रभावित होते हैं। अधिकारी जिस कर्मचारी को अधिक पसन्द करता है तो वह उसे ही महत्त्व देता है, उसे ही लाभ पहुंचाता है। दूसरी ओर कोई कर्मचारी चापलूसी से अधिकारी को प्रसन्न रखता है तो तब भी वह लाभ का पात्र होता है। ऐसे में अन्य कर्मचारियों की भावना को भी ठेस लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि वह क्रोध से अथवा हीन भावना से ग्रस्त हो जाता है और अपना मानसिक संतुलन नहीं रख पाता है।

1.2.8 आहार

व्यक्ति जैसा आहार करता है, वैसा ही उसका व्यवहार भी होता है। कहा भी है कि जैसा खावै अन्न, वैसा होने मन। आहार और मन का सीधा संबंध है। इसीलिए मनीषियों ने सात्विक, राजसिक एवं तामसिक—तीन प्रकार के आहारों की बात की। सात्विक आहार मन को शांत रखता है, सकारात्मक रखता है। यह स्वास्थ्योपयोगी है। देखा यह जाता है कि व्यक्ति अपनी स्वादलोलुपता के कारण न जाने क्या-क्या आहार करता है। आधुनिक जीवनशैली इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। अनेक प्रकार का भोजन शरीर में अनेक विष भी पैदा करता है। इससे स्वास्थ्य प्रभावित होता है। जैसा आहार होता है, उसी के अनुरूप शरीर में रसायन बनते हैं। अत: असंतुलित आहार से व्यवहार भी असंतुलित होता है।

1.2.9 गरीबी

गरीबी सबसे बड़ा अभिशाप है। व्यक्ति का सबसे बड़ा स्वार्थ है—प्राण रक्षा। प्राण रक्षा के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी हों जिसमें रोटी प्रमुख है। रोटी के अभाव में व्यक्ति न जाने क्या-क्या दुष्कर्म कर डालता है। वास्तव में गरीबी किसी भी दृष्टि से सही नहीं कही जा सकती है क्योंकि यह व्यक्ति को हैवान तक बना देती है। अनेक सामाजिक समस्याओं का कारण यही गरीबी रही है। स्वयं की रक्षा, परिवार की रक्षा, न जाने व्यक्ति इसमें कितना सफल हो पाता है। यह शोचनीय है। इसके अभाव में न अच्छी शिक्षा हो सकती है और न अन्य कार्य हो सकते हैं। इससे दबा व्यक्ति ही समझ सकता है कि गरीबी की मार क्या होती है। वास्तव में यह दु:खद स्थिति है। मानसिक असंतुलन का यह डरावना कारण बनता है।

1.2.10 अन्य

इन उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त भी न जाने कितने ही ऐसे कारण हैं जो मानसिक असंतुलन के कारण बनते हैं। व्यक्ति समाज का अंग है, प्रकृति का हिस्सा है। इस ब्रह्माण्ड का यह सजीव प्राणी है। अत: व्यक्ति तथा ब्रह्माण्ड के बीच की सभी उथल-पुथल मानसिक समस्याओं का कारण बनते हैं।

1.3 मानसिक संतुलन के उपाय

यदि उपरोक्त सभी समस्याओं का समाधान हो जाए तो मानसिक संतुलन स्वत: हो जाएगा। फिर भी संक्षेप में कुछ उपाय सुझाए जा सकते हैं—

1. सकारात्मक भाव धारा का निर्माण करना।
2. अनावश्यक आलोचना में न फंसना।
3. अपना जीवन लक्ष्य तय करना।
4. समय का सदुपयोग करना।
5. कर्त्तव्यनिष्ठा बनाए रखना।
6. प्रामाणिक व्यवहार करना।
7. सबका सम्मान करना।
8. अधिक खर्चीला न होना।
9. अपने दायित्व को समझना।
10. एकाकी स्वार्थीपन से बचना।
11. न्यायपूर्ण व्यवहार करना।
12. मैत्रीभाव बनाए रखना।
13. त्याग की चेतना जागना।
14. सहयोग की भावना को विकसित करना आदि।

1.4 मानसिक संतुलन की अनुप्रेक्षा

मानसिक संतुलन की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. हरे रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
   ''श्वास के साथ हरे रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।'' — 3 मिनट
4. दर्शन-केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान करें। — 3 मिनट
5. दर्शन-केन्द्र पर चित्त केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें (9 बार उच्चारण, 9 बार मानसिक जप)—
   ''आवेश अनुशासित हो रहे हैं, मानसिक संतुलन बढ़ रहा है।'' — 5 मिनट
6. अनुचिंतन करें—''अस्वस्थ मन शरीर को अस्वस्थ बनाता है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मानसिक स्वास्थ्य बहुत जरूरी है। अस्वाभाविक आकांक्षा, असहिष्णुता, अवांछनीय घटना मन को असंतुलित बना देती है। मानसिक असंतुलन सफलता में बहुत बड़ी बाधा है। समस्या का सामना करना और मानसिक असंतुलन खोना एक बात नहीं है। मैं समस्या से जूझते हुए भी अपना मानसिक संतुलन बनाए रखूंगा। मेरा विश्वास है कि प्रेक्षाध्यान के अभ्यास द्वारा मैं अपने मन को इतना साध लूंगा कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी संतुलित रह सके।'' — 10 मिनट
7. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। — 2 मिनट

बोध प्रश्न

1. मानसिक संतुलन का क्या अर्थ हैं?
2. व्यवहार का महत्त्वपूर्ण सूत्र क्या है?
3. व्यक्ति का जीवन आग्रही कब बनता है?
4. मानव शरीर किसका केन्द्र बिन्दु है?
5. व्यक्ति कस सबसे बड़ा स्वार्थ कया है?

2.0 धैर्य

धैर्य सफल जीवन के लिए आवश्यक है। इसीलिए मनीषियों ने इसे मूल्य के रूप में स्वीकार किया है। चरक संहिता में धैर्य को मन का नियमन करने वाली शक्ति कहा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि धैर्य के द्वारा सदाचार की आस्था को पुष्ट किया जा सकता है। सामान्यतया व्यक्ति अल्प समय में ही कार्य का सुपरिणाम चाहने लग जाता है। यदि यह न मिला तो व्यक्ति

अपने कार्य बदल देता है, अपनी दिशा बदल देता है अथवा अपनी दशा को भी बदल देता है। यह सत्य भी है कि कर्म का फल निश्चित समय से ही मिलेगा। आम का फल चाहने वाला भले ही उस वृक्ष को कितना ही खाद-पानी दे। वह फल समय पर देगा अथवा ऋतु के अनुसार ही फल लगेगा। कहा भी है कि—

धीरे-धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आवै फल होय।।

अत: इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्ति अपनी मनमर्जी से सब कुछ प्राप्त नहीं कर सकता है। इसमें कई परिस्थितियां सहायक बनती हैं। मरीज एक नहीं बल्कि अनेक चिकित्सकों से परामर्श लेता है, औषधियां लेता है क्योंकि वह तुरन्त समाधान चाहता है। ऐसी मानसिकता यदि प्रत्येक कार्य में रहे तो व्यक्ति में वास्तव में मानसिक रूप से असंतुलन हो जाएगा। इसका कारण होगा कि परिणाम उसके अनुरूप न होना, उसकी इच्छानुसार न होना। धैर्य वास्तव में कई समस्याओं का समाधान है। तात्कालिकता, आकस्मिकता, उतावलेपन से एक नहीं अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। पारिवारिक कलह, तलाक, हत्या, आदि अनेक ऐसी समस्याएँ हैं जहां व्यक्ति यदि थोड़ा धैर्यपूर्वक सोचे तो स्वत: समाधान मिल जाएगा। व्यक्ति की असीमित इच्छाएँ, उसका नितांत एकाकी दृष्टिकोण व्यक्ति को धैर्यरहित कर देता है। अत: व्यक्ति सहज होकर सोचे तो वह धैर्य को व्यवहार का अंग बना सकता है।

2.1 धैर्यवान व्यक्ति की विशेषताएँ

धैर्य धारण करने वाले व्यक्ति में अनेक विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। ये विशेषताएँ तो भीतर में होती हैं लेकिन व्यवहार द्वारा प्रकट होती हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि जो बुद्धि आदि गुणों को धारण करता है, वह धीर होता है। बुद्धि का कार्य है सही गलत का निर्णय करना, तर्क करना आदि। यदि बुद्धि मुख्य न हो तो व्यक्ति के लिए धैर्य का कोई महत्त्व भी नहीं होता। इसलिए बुद्धि आदि गुण धैर्य के परिपालक हैं। नीतिशतक में भृतहरि कहते हैं कि कोई निन्दा करे अथवा स्तुति, लक्ष्मी इच्छानुसार आए अथवा न आए, मृत्यु जिसका वरण कभी भी करे लेकिन धीर पुरुष न्यायपथ से अंशमात्र भी विचलित नहीं होते हैं। आचारांग में कहा है कि हे धीर! तू अग्र और मूल का विवेक कर। कहने का तात्पर्य है कि धीर पुरुष अथवा धैर्यवान व्यक्ति को कोई परिस्थिति नहीं डिगा सकती है। वह अपने कर्म में तल्लीन रहते हैं।

2.2 धैर्य के परिणाम

धैर्य के निम्न सुपरिणाम हैं—

1. व्यक्ति प्रसन्न चित्त रहता है।
2. शक्तियों का समायोजन करना है।
3. मानसिक विचारों का संगठन होता है।
4. कर्म के प्रति आस्थावान होता है।
5. सकारात्मक सोच होती है।
6. दूसरों के लिए उदाहरण प्रस्तुत करता है।
7. समस्याओं का सामना निडर होकर करता है।
8. मानसिक समस्याओं से दूर रहता है।
9. रचनात्मक कार्यों में संलग्न रहता है।
10. सद्मार्ग का पालन करता है।

2.3 धैर्य की अनुप्रेक्षा

धैर्य की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. पीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
   ''श्वास के साथ पीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।'' — 3 मिनट
4. प्राण-केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान करें। — 3 मिनट
5. प्राण-केन्द्र पर चित्त केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें (9 बार उच्चारण, 9 बार मानसिक जप)—
   ''मैं परिस्थिति को झेलने की क्षमता का विकसित करूंगा। उससे पराजित नहीं होऊँगा।'' — 5 मिनट

6. अनुचिंतन करें—''जिसमें उतावलापना होता है, जो उचित समय की प्रतीक्षा नहीं जानता, उसका मन अधिक चंचल हो जाता है। अधिक चंचलता मन को अस्त-व्यस्त बना देती है। इससे स्मृति और एकाग्रता की शक्ति कम होती है, इसीलिए धैर्य रखना बहुत जरूरी है। मैं धैर्य रखने का अभ्यास करूंगा।'' — 10 मिनट

7. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। — 2 मिनट

नैतिक मूल्य

समाज में सदैव अच्छा-बुरा, गुण-अवगुण की प्रधानता रही है। व्यक्ति के व्यवहार में भी ये दोनों ही पाए जाते हैं। राग और द्वेष—इन दोनों का सम्मिलित रूप है—हमारा व्यवहार। व्यक्ति को जो अच्छा लगता है, उसके प्रति राग भावना रहती है तो जो बुरा लगता है, उसके प्रति द्वेष भावना पाई जाती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि जिसे व्यक्ति अच्छा माने, सही माने, वह वास्तव में सही ही हो। उदाहरण—चोर को चोरी करना अच्छा लगता है लेकिन यह अच्छा नहीं है। चोर अपना सामान चोरी नहीं करता है। अपनों की भी कई मामलों में चोरी नहीं करता है वरन् वह दूसरों का समान चोरी करता है। इसलिए चोर के अच्छा मानने से भी वह अच्छा नहीं है। इसी प्रकार व्यवहार में अनेक ऐसी बातें देखी जाती हैं जिन्हें व्यक्ति पसंद करता है, उन्हें जीवन का अंग बनाता है लेकिन फिर भी उसके लिए हितकर नहीं होते हैं। इसलिए यह बात स्पष्ट होती है कि नैतिकता का संबंध व्यक्तिगत हित ही नहीं अपितु सामाजिक हित से भी है। अत: नैतिकता का स्वरूप संकुचित नहीं वरन् व्यापक है क्योंकि नैतिकता समाज में ही प्रस्फुटित होती है। व्यक्ति अपने व्यवहार का मूल्यांकन अवश्य करता है लेकिन उसके व्यवहार का मूल्यांकन समाज द्वारा भी होता है। अत: समाज के लिए जो हितकर हो, वही मूल्य नैतिकता के अन्तर्गत आते हैं। यों तो मूल्य अनेक हैं। प्रत्येक का संबध किसी-न-किसी रूप से समाज द्वारा ही मूल्यांकित होता है। नैतिकता वास्तव में व्यक्ति को एक मर्यादा का जीवन देती है ताकि व्यक्ति जीवन के क्षेत्र में भटक न जाए। वह इतना स्वार्थी न हो जाए कि दूसरों के लिए सिरदर्द बने। अत: नैतिकता जीवन का आवश्यक मूल्य है। इसके अन्तर्गत निम्न मूल्यों को महत्त्व दिया गया है—

3.0 प्रामाणिकता

प्रामाणिकता का अर्थ ईमानदारी है, सत्य व्यवहार है। प्रामाणिकता व्यक्ति को चोरी से बचाती है, झूठ से बचाती है। जब व्यक्ति में स्वार्थ भावना प्रबल होती है तो उसकी पूर्ति के लिए वह चोरी करता है, झूठ बोलता है, न जाने क्या-क्या कुकृत्य करता है जिससे उसका व्यक्तिगत जीवन ही नहीं वरन् सामाजिक जीवन भी प्रभावित होता है। उसका आध्यात्मिक पतन भी होने लगता है। ऐसा व्यक्ति अन्त:करण की आवाज को नकार देता है। यद्यपि प्रामाणिकता प्रत्येक व्यक्ति के भीतर छिपी है लेकिन व्यक्ति अपने स्वार्थवश उसे भुला देता है। कुछ व्यक्तियों में निमित्त पाकर प्रामाणिकता का बीज अंकुरित होता है तो किसी में आन्तरिक प्रेरणा से। जिस व्यक्ति में प्रामाणिकता स्वत: प्रस्फुटित होती है, परिस्थितियां उसे डिगा नहीं सकती हैं। प्रामाणिकता में अधिकृत वस्तु का तो ग्रहण होता है और अनधिकृत वस्तु का त्याग होता है। प्रामाणिकता एक ऐसा मूल्य है जो अर्थनीति, राजनीति और धर्मनीति—तीनों को ही मान्य है। **अर्थशास्त्र में प्रामाणिकता का उद्देश्य है व्यवसाय का विकास। यदि व्यापारी प्रामाणिकता रखता है तो ग्राहकों का उस पर विश्वास पैदा हो जाता है। व्यवसाय जगत् में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है।** राजनीति की प्रामाणिकता जनता और नेताओं के बीच पनपने वाली विश्वासघात जैसी प्रवृत्ति को नियंत्रित करती है। धर्म के क्षेत्र में प्रामाणिकता आत्मविश्वास के मार्ग को प्रशस्त करती है। अत: प्रामाणिकता व्यक्ति को भीतर से विशुद्ध रखती है।

3.1 प्रामाणिकता के प्रकार

यों तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रामाणिकता आवश्यक है। अत: इसे प्रकारों में नहीं बांटा जा सकता है। फिर भी इसे तीन प्रकारों में बांटा गया है ताकि इसमें लगभग क्षेत्र स्पर्श हो सकें। अत: वे तीन प्रकार हैं—

1. वचन की प्रामाणिकता

भारतीय संस्कृति में वचन की प्रामाणिकता विद्यमान रही है। प्राण जाए पर वचन न जाए—यह उद्घोष यहां की संस्कृति का आदर्श रहा है। वास्तव में वचन की प्रामाणिकता अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति कहता कुछ है, करता कुछ है। अत: कथनी और करनी में बहुधा भेद देखा जाता है। यह भेद व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में मन-मुटाव करता है। संबधों को कटु

बनाता है। इसलिए व्यक्ति जो कहे, उसी के अनुरूप व्यवहार करे तो उस पर विश्वास भी बढ़ता है अन्यथा ऐसे व्यक्तियों को झूठा व्यक्ति ही कहा जा सकता है।

2. आर्थिक प्रामाणिकता

अर्थ जहां जीवनयापन का साधन बनता है वहीं अर्थ बहुत बड़ी समस्या भी बनता है। अर्थ के प्रति सही दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति कभी भी अप्रामाणिक नहीं हो सकता है। यह सत्य है कि अर्थ एक ऐसी आवश्यकता है जिसे झुठलाया ही नहीं जा सकता है पर इससे होने वाली समस्याओं को भी नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है। इससे यदि जीवन दान मिलता है तो इसी के लिए जीवन की आहुति भी ली जाती है। एक तरफ यह समाधान है तो दूसरी तरफ समस्या। समस्या इसलिए है कि व्यक्ति की भावधारा ही सम्यक् नहीं होती है। जहां भावधारा निषेधात्मक है वहां अर्थ अनर्थ बन जाता है। अत: अर्थ की प्रामाणिकता बहुत आवश्यक है। भारतीय संस्कृति में अर्थ की प्रामाणिकता का विशेष महत्त्व रहा है। वर्तमान में भी ऐसे अनेक व्यक्ति मिल जाएँगे जो वास्तव में अर्थ की प्रामाणिकता रखते हैं। दूसरी तरफ वर्तमान में राजनैतिक स्तर पर न जाने कितने भ्रष्टाचार, कितने काण्ड होते रहते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि व्यक्ति पद से नहीं आचरण से बड़ा होता है।

3. व्यवहार की प्रामाणिकता

व्यवहार की प्रामाणिकता एक दूसरे के प्रति विश्वास की भावना को उत्पन्न करता है। प्रामाणिक व्यवहार से पारिवारिक संबंधों में मधुरता आती है। अत: यह आवश्यक है कि व्यक्ति भले ही अपने लिए प्रामाणिक व्यवहार चाहता है पर दूसरों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार करे—यह आवश्यक है। अपने लिए हर व्यक्ति अच्छे की ही चाह रखता है। बड़ी बात तब होती है जब वह दूसरों के साथ भी अच्छा व्यवहार करे। अच्छाई का माध्यम व्यवहार ही बनता है। अत: व्यवहार की प्रामाणिकता व्यक्ति के प्रति विश्वास पैदा करती है और समाज में ऐसे व्यक्तियों को प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है क्योंकि ऐसे व्यक्तियों से ही अच्छा समाज बनता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने प्रामाणिकता को बहुत बड़ा स्थान दिया है। अत: प्रामाणिकता के विकास के लिए प्रामाणिकता की अनुप्रेक्षा को जीवन-विज्ञान की शिक्षा में प्रायोगिक पक्ष के रूप में दिया है। इस अनुप्रेक्षा के द्वारा व्यक्ति प्रामाणिकता जैसे मूल्य को अपने जीवन में स्थान दे सकता है।

3.2 प्रामाणिकता की अनुप्रेक्षा

प्रामाणिकता की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. सफेद रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
   ''श्वास के साथ सफेद रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।'' — 3 मिनट
4. ज्योति-केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान करें। — 3 मिनट
5. ज्योति-केन्द्र पर चित्त केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें (9 बार उच्चारण, 9 बार मानसिक जप)
   — ''मेरी संकल्प शक्ति का विकास हो रहा है। प्रामाणिकता का भाव पुष्ट हो रहा है।'' — 5 मिनट
6. अनुचिंतन करें—''अप्रामाणिकता एक असाधारण आवेग है। यह बहुत बड़ी बुराई है। जो भावना से अपरिपक्व होता है, वही अप्रामाणिक व्यवहार करता है। मैं अप्रामाणिकता की प्रवृत्ति पर विजय पा सकता हूँ। जिस क्षण अप्रामाणिक व्यवहार करने की बात आई मन में आएगी, उसी समय बदल दूंगा। मैं अपने आप को भावित करता रहूँगा। कोई भी परिस्थिति मुझे अप्रामाणिक नहीं बना सकती। मैं अपने विवेक को काम में लूंगा। आवेगों के आधार पर काम नहीं करूंगा। मेरा दृढ़ निश्चय है कि मैं निरन्तर प्रामाणिकता का विकास करूंगा।'' — 10 मिनट
7. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। — 2 मिनट

4.0 करुणा

करुणा मानवीय संवेदना का मूर्त्त रूप है। करुणा अन्त:स्थल से फूटा हुआ स्रोत है। किसी व्यक्ति के दु:ख को, कष्ट को देखकर कोई व्यक्ति द्रवित हो जाता है तो कोई बिना संवेदना के ही रह जाता है। स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक है—करुणा। नैतिक मूल्य यही कहता है कि करुणा वास्तव में दूसरे के अस्तित्व की सुरक्षा है। यदि व्यक्ति में करुणा नहीं है तो वह असंवेदनशील है। यह व्यक्ति संबंधों को तोड़ता है। यह ऐसा मूल्य है जो सामाजिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करता है। करुणा अहिंसा का पर्याय है। करुणा और अहिंसा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। करुणा है तो अहिंसा है। अहिंसा है तो करुणा है। यह मानव धर्म है कि वह त्रस्त प्राणी के प्रति करुणा का भाव रखे, उसे उस स्थिति से उभारे। केवल करुणा भाव रखना ही पर्याप्त नहीं है वरन् अवसर आने पर करुणा का व्यावहारिक रूप में प्रकटीकरण भी आवश्यक है। अर्थात् करुणा सम्पन्न व्यक्ति द्वारा सुख एवं शांति की स्थिति प्रदान करना भी आवश्यक है।

4.1 करुणा का स्वरूप

करुणा मैत्री का प्रयोग है। जिसका सारा जग अभिन्न होता है उसकी करुणा भी व्यापक होती है। करुणा का प्रवाह प्रतिपल प्रवाहित होता रहता है। महापुरुषों में हमेशा ही करुणा की छवि देखी जाती है। अर्थात् वे करुणा की ही प्रतिमूर्ति होते हैं। दूसरों के दु:खों से दु:खी होकर उसे दूर करने का भरसक प्रयास करते हैं। इसके लिए भले ही उन्हें कितना ही कष्ट उठाना पड़े पर दु:ख दूर करने का उनका महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है। मां अपने बच्चे की रक्षा अपनी जान खतरे में डालकर करती है, वैसे ही करुणा का भाव सभी चेतन प्राणियों के लिए होना चाहिए। करुणा का भाव विकसित होने पर कोई किसी को न मारेगा, न सताएगा, न क्रूर व्यवहार ही करेगा। अत: नैतिकता का आधार करुणा है ऐसा न होने पर व्यक्ति लोभ, संग्रह, स्वार्थ वृत्ति में दूसरों के अस्तितव को ही कुचल देगा। ऐसा भी होता आया है। यहां क्रूरता के कारण बड़े जघन्य अपराध हुए। भारतीय इतिहास इसका भी साक्षी है। साथ ही करुणा का भी साक्षी है। कलिंग विजय के बाद सम्राट अशोक का हृदय द्रवीभूत हो गया जब उसने युद्ध में मारे गए व्यक्तियों के शवों को देखा। तब उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया जो अहिंसा का धर्म है।

अत: आदरणीय वही व्यक्ति होता है जिसने दूसरों को सुख बांटा है, शांति एवं आनन्द बांटा है। करुणा का स्वरूप जागतिक है। करुणा में जाति, धर्म, सम्प्रदाय, छोटा-बड़ा आदि का भेदभाव नहीं होता है। सबके प्रति समान भाव रहता है। यदि व्यक्ति कुछ ही गिने-चुने व्यक्तियों के प्रति करुणा का भाव रखे तो यह उसका अपना मोह है, अपनी आसक्ति है अथवा अपना स्वार्थ है। करुणा स्वार्थ से परे का भाव है जहां बदले में कोई अभिलाषा नहीं होती, कोई इच्छा नहीं होती। दूसरे की प्रसन्नता में ही करुणाशील व्यक्ति प्रसन्न रहता है। अत: यह महान गुण है जहाँ अपेक्षा ही नहीं है और लेने की नहीं, देने की भावना प्रबल होती है। परार्थ चेतना प्रबल होती है। वास्तव में करुणाशील व्यक्ति किसी से शत्रुता नहीं रखता है, द्वेष नहीं रखता है अपितु मित्रता रखता है। यह सत्य भी है कि सामान्य व्यक्ति अपनों के प्रति ही अच्छा सोचता है, अच्छा करता है। करुणाशील व्यक्ति सबका अच्छा सोचता है, सबका भला करता है क्योंकि उसकी सोच व्यापक होती है, उसका कार्यक्षेत्र व्यापक होता है और उसकी करुणा व्यापक होती है।

4.2 करुणा का परिणाम

करुणा से निम्न सुपरिणाम प्राप्त होते हैं—

1. करुणा अहिंसा की भावना को पुष्ट करती है।
2. करुणा चेतनाशील प्राणियों के अस्तित्व की रक्षा करती है।
3. करुणा असत् कार्यों से बचाती है।
4. करुणा मैत्री का विकास करती है।
5. करुणा व्यक्ति के आचार को पवित्र रखती है।
6. करुणा स्वस्थ समाज का संरक्षण करती है।
7. करुणा हृदय परिवर्तन में सहायक होती है।
8. करुणा में त्याग की चेतना होती है।
9. करुणा व्यक्ति को ऊँचा स्थान प्रदान करती है।

4.3 करुणा की अनुप्रेक्षा

करुणा की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट

3. गुलाबी रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
   ''श्वास के साथ गुलाबी रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।'' — 3 मिनट
4. आनन्द-केन्द्र पर गुलाबी रंग का ध्यान करें। — 3 मिनट
5. आनन्द-केन्द्र पर चित्त केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें (9 बार उच्चारण, 9 बार मानसिक जप)—
   ''सम्यक् दृष्टिकोण का विकास हो रहा है। करुणा का भाव पुष्ट हो रहा है।'' — 5 मिनट
6. अनुचिंतन करें—''क्रोध, अहंकार और लोभ के आवेग मनुष्य को क्रूर बनाते हैं। क्रूर मनुष्य दूसरों को सताता है, ठगता है, अप्रिय व्यवहार करता है। कोई नहीं चाहता कि मेरे साथ अप्रिय व्यवहार हो, तो फिर मुझे दूसरों के प्रति अप्रिय व्यवहार क्यों करना चाहिए? मुझे अच्छा जीवन जीने के लिए, सामुदायिक जीवन को शांतिमय बनाने के लिए करुणा का विकास करना है। मैं संकल्प करता हूँ कि मेरे में करुणा का भाव पुष्ट होगा।'' — 10 मिनट
7. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। — 2 मिनट

5.0 आत्मानुशासन

आत्मानुशासन दो शब्दों से मिलकर बना है—आत्म + अनुशासन। अर्थात् स्वयं पर अनुशासन। यदि देखा जाए तो अनेक समस्याओं का समाधान इस एक मूल्य के विकास से भी संभव हो सकता है। जिसने स्वयं पर नियंत्रण सीख लिया, जिसने अपने आवेगों को वशीभूत कर लिया वह व्यक्ति कभी भी किसी का अहित नहीं कर सकता है। अत: आत्मानुशासन समाधान है। यह प्रगति का द्वार है, सफलता का मूल मंत्र है। विद्यार्थी जीवन अथवा दूसरा कोई भी जीवन हो, आत्मानुशासन सभी जगह पर समान रूप से लागू होता है। यह व्यक्ति का धर्म है। विद्यार्थी जीवन से लेकर पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में आत्मानुशासन एक पथ-प्रहरी का कार्य करता है। वास्तव में जिसने अपने पर नियंत्रण रख लिया, वह सबको जीत लेता है। जीत भले ही पदार्थ की ही न हो। पदार्थ तो दृश्य जगत् का है लेकिन अदृश्य जगत् में कई शत्रुओं को जीत लेता है। बाहर के शत्रु तो बहुत कम होते हैं या होते ही नहीं हैं पर भीतर में शत्रु कई हैं। अत: उनको जीतना कठिन है पर आत्मानुशासी व्यक्ति उन्हें भी जीत लेता है। आत्मानुशासन कठिन काम अवश्य लग सकता है पर जिसने आत्मानुशासन रख लिया, उसका जीवन भी बदल गया। इसमें इतनी शक्ति है कि यह व्यक्ति को अनेक ऊँचाइयां प्रदान करता है।

आत्मानुशासन विद्यार्थी जीवन का आभूषण है। विद्यार्थी काल में यदि विद्यार्थी को आत्मानुशासन की शिक्षा दी जाए तो उसका सारा जीवन सफल हो सकेगा। केवल सैद्धान्तिक ज्ञान ही नहीं वरन् प्रयोगों के माध्यम से आत्मानुशासन जैसे मूल्य को अचेतन की गहराई में रोपा जाए तो समय आने पर फल भी उसी के अनुरूप प्राप्त हो सकेंगे। विद्यार्थी जीवन में अनेक आकर्षण-विकर्षण पैदा होते रहते हैं। मुख्यतया 14-15 वर्ष की उम्र में अनेक शारीरिक परिवर्तन होते हैं। इससे मानसिक तथा भावनात्मक व्यवहार भी प्रभावित होता है। यदि प्रारम्भ से ही आत्मानुशासन की शिक्षा से मन-मस्तिष्क प्रशिक्षित किया जाए तो विद्यार्थी सतत् विकास की ओर ही अग्रसर होता है।

5.1 स्वतंत्रता का आधार आत्मानुशासन

व्यक्ति तभी स्वतंत्र रह सकता है जब वह आत्मानुशासी हो। आत्मानुशासन के अभाव में वह दूसरों के हाथ की कठपुतली बन जाता है। अनुशासन के दो प्रकार बतलाए गये हैं—आरोपित अनुशासन और आत्मानुशासन। आरोपित अनुशासन समाज द्वारा, कानून द्वारा, दूसरे व्यक्तियों द्वारा लगाया जाता है लेकिन आत्मानुशासन व्यक्ति की इच्छा पर होता है। आरोपित अनुशासन समाज-व्यवस्था को स्वस्थ रखने के लिए होता है। इसमें व्यक्ति बाध्य होता है लेकिन आत्मानुशासी व्यक्ति स्व-अनुशासन द्वारा अपने पर नियंत्रण स्थापित करता है। उसके लिए परानुशासन का मूल्य नहीं होता है अर्थात् परानुशासन उसके लिए होता है जो स्व-अनुशासन अथवा आत्मानुशासन में नहीं रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को कानून द्वारा दण्ड भी दिया जाता है। आत्मानुशासी व्यक्ति सर्वत्र, समान रूप से अपने व्यवहार का प्रदर्शन करता है। वह सभी नियमों, कानूनों का रक्षक होता है क्योंकि वह उन्हें तोड़ता नहीं है। इसलिए ऐसे व्यक्ति को स्वतंत्रता स्वत: ही प्राप्त हो जाती है। कहने का तात्पर्य है कि वह परतंत्र नहीं होता है, वह स्वतंत्र होता है। परतंत्र वह व्यक्ति होता है जो दूसरे के अधीन होता है। दूसरों द्वारा करवाये गए कार्यों का वह संपादन करता है। अर्थात्

परतंत्र व्यक्ति अपने तंत्र में नहीं होता है, अपनी व्यवस्था में नहीं होता है। वास्तव में ऐसा व्यक्ति दूसरों द्वारा ही नियंत्रित होता है। परतंत्रता सर्वथा गलत ही है, ऐसा भी मानना गलत है। परतंत्रता व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक है। माता-पिता अपने बच्चों को नियंत्रित रखते हैं तो वह उनके विकास के लिए आवश्यक है। कोई कानून व्यवस्था सर्वहित को ध्यान में रखकर नियम लगाती है तो वह भी सही ही है। गलत उसे माना जाता है जो अपनी मनमर्जी से अथवा अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर दूसरों को कष्ट देता है। ऐसा व्यवहार समाज में त्याज्य है। यदि व्यक्ति स्वतंत्रता और परतंत्रता में सही भेद कर उपयुक्त व्यवहार करे तो व्यवस्थाएँ बिगड़ नहीं सकती है। कोई भी कानून बनता है तो सबको ध्यान में रखकर बनाया जाता है लेकिन स्वार्थ में चूर व्यक्ति अपना ही भला देखता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि स्वतंत्रता और परतंत्रता दोनों ही आवश्यक हैं। परिस्थितियां भिन्न हो सकती हैं। यदि दोनों हित में हैं तो समस्या का प्रश्न ही नहीं होता है। स्वतंत्रता जितनी आवश्यक है, परतंत्रता का भी उतना ही मूल्य है। अत: व्यक्ति को दोनों में भेद कर हितार्थ हेतु प्रस्थान करना चाहिए।

यह सत्य है कि जो व्यक्ति आत्मानुशासी है, वह स्वतंत्र है। उसका अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण है। अपने स्वार्थ पर नियंत्रण है और जनहित को वह महत्त्व देता है। अत: ऐसे व्यक्ति को कोई नियम, कोई कानून अथवा कोई व्यवस्था प्रभावी नहीं कर सकती है। दण्ड उसे ही मिलता है जो आत्मानुशासन से रहित होता है। सामान्यतया यह स्पष्ट देखा जाता है कि कुछ ही व्यक्तियों को दण्ड दिया जाता है। यदि देखा जाए तो इनका प्रतिशत भी बहुत कम मिलेगा पर दण्ड तो दण्ड ही है। अत: व्यक्ति को सुखी एवं सफल जीवन के लिए आत्मानुशासन जैसे मूल्य को महत्त्व देना ही चाहिए तभी दूसरे भी सुखी रह सकते हैं।

5.2 आत्मानुशासन का विकास

आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि आत्मानुशासन का विकास तब होता है जब शारीरिक अनुशासन हो। उनका कहना है कि शरीर में एक अनुशासन है, एक व्यवस्था है। इसीलिए व्यक्ति स्वस्थ रहता है। शरीर का प्रत्येक संस्थान अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। इनका सबका सह-अवस्थान है। ये व्यवस्थित हैं, इसलिए शारीरिक क्रिया सही ढंग से होती है। यदि इन तंत्रों में अनुशासन नहीं होता तो शारीरिक क्रिया भी अव्यवस्थित हो जाती। शारीरिक अनुशासन से ही मानसिक अनुशासन प्राप्त होता है। अत: अनुशासन जीवन का स्वाभाविक विकास है। आत्मानुशासन का विकास होता है आध्यात्मिक विद्या के द्वारा। आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं—अध्यात्म विद्या के द्वारा जो अनुशासन प्राप्त होता है, वह अन्य किसी विद्या से प्राप्त नहीं होता। इन्द्रियां, मन, विचार और भाव केवल अध्यात्म के द्वारा ही अनुशासित हो सकता है। अन्य किसी के द्वारा नहीं हो सकता है। अध्यात्म ने जो सूत्र दिये हैं, उनसे व्यक्ति बदल सकता है, उसमें स्थाई रूपान्तरण घटित हो सकता है। आत्मानुशासन की अनुप्रेक्षा आत्मानुशासन के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि आरोपित अनुशासन बहुत काम नहीं देता है, प्रकाश में काम देता है, अंधकार में काम नहीं देता है। दो व्यक्तियों के बीच में काम देता है, अकेले में काम नहीं देता है। वह बुराई को मिटाता नहीं बल्कि उसे और गहराई में ले जाता है। उसमें यह होता है कि बुराई करो और किसी के सामने मत करो, छुप कर करो। यह उसकी निष्पत्ति है। जो अनुशासन स्वाभाविक होता है, वह स्वभावत: सिद्ध होता है। वहां अंधकार और प्रकाश का, परिषद और अकेले का प्रश्न ही नहीं उभरता है। वहां एकरूपता, एकरसता, समस्वरता होती है। वह अनुशासन है अध्यात्म का अनुशासन।

5.3 आत्मानुशासन के परिणाम

आत्मानुशासन से व्यक्ति में निम्न मुख्य गुण विकसित होते हैं—

1. अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ आस्था रखता है।
2. लक्ष्य के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना होती है।
3. लक्ष्य प्राप्ति के लिए सतत् प्रयास करता है।
4. संयमी जीवन जीता है।
5. अच्छे संकल्पों से स्वयं को भावित करता है।
6. प्रसन्नचित्त रहता है।
7. समय का सदुपयोग करता है।
8. समाज व्यवस्था को बनाए रखने में योगदान देता है।
9. दूसरों के लिए प्रेरणादायी बनता है।
10. स्वस्थ जीवनशैली वाला होता है।
11. मित्रवत् व्यवहार रखता है।
12. आध्यात्मिक प्रवृत्ति का होता है।

5.4 आत्मानुशासन की अनुप्रेक्षा

आत्मानुशासन की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. पीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
   ''श्वास के साथ पीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।'' — 3 मिनट
4. शांति-केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान करें।
   — 3 मिनट
5. शांति-केन्द्र पर चित्त केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें (9 बार उच्चारण, 9 बार मानसिक जप)—
   ''नियंत्रण की क्षमता बढ़ रही है, मन की चंचलता कम हो रही है।'' — 5 मिनट
6. अनुचिंतन करें—''अनुशासन या नियंत्रण के बिना समाज नहीं चल सकता। जब आत्म-नियंत्रण सशक्त होता है, तब बाहरी नियंत्रण की अपेक्षा कम होती है। आत्म-नियंत्रण की शिथिलता होने पर बाहरी नियंत्रण की मात्रा बढ़ जाती है। मैं नहीं चाहता कि बाहरी नियंत्रण के द्वारा मेरी स्वतंत्रता पर अंकुश लगे। अपने पर अपना अनुशासन अणुव्रत की परिभाषा—इस सत्य को मैंने समझा है। इसलिए मैं संकल्प करता हूँ कि मैं आत्मानुशासन का विकास करूंगा।'' — 10 मिनट
7. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। — 2 मिनट

बोध प्रश्न

1. प्रामाणिकता का क्या अर्थ है?
2. मानवीय संवेदना का मूर्त्त रूप क्या है?
3. आत्मानुशासन का क्या अर्थ है?
4. विद्यार्थी जीवन का आभूशण क्या है?
5. स्वतंत्र कौन होता है?

6.0 सह-अस्तित्व का महत्त्व

व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से अथवा दूसरे प्राणियों से रंग, रूप, भाषा, सम्प्रदाय, जाति आदि के आधार पर ही तो भिन्न है। प्राण के आधार पर भिन्न नहीं है। प्राण धारा सभी में समान रूप से प्रवाहित होती है। यही महत्त्वपूर्ण बात है। जीवित प्राणी के साथ ही सह-अस्तित्व की बात लागू होती है क्योंकि वह अनुभव करता है। उसके पास संवेदनाएँ हैं, इसलिए वह सुख-दु:ख का अनुभव करता है। यह प्रकृति का भी नियम है कि यदि व्यक्ति उसका शोषण करता है तो प्रकृति अपना संतुलन बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहती है। उदाहरणार्थ यदि पहाड़ की जड़ें खोद ही जाएँ तो क्या पहाड़ सुरक्षित रह सकता है—नहीं। पहाड़ अपना संतुलन बनाने के लिए धंस जाएगा, भूस्खलन हो जाएगा। इसी प्रकार अन्य प्राकृतिक प्रकोपों के लिए व्यक्ति ही जिम्मेदार है। व्यक्ति ही इस प्रकृति में रहने वाले प्राणी के अस्तित्व को बचा भी सकता है और उसको खत्म भी कर सकता है। ऐसा हो भी रहा है। वर्तमान में व्यक्ति के पास अनेक परमाणु शक्तियाँ हैं। यदि इनका उपयोग विनाश के लिए किया जाए तो विनाश ही होगा और यदि शक्ति को सुरक्षित रखा जाए तो कोई क्षति भी नहीं होगी। ऐसी चेतना जो सबके अस्तित्व के प्रति जागरूक रहे, सबके अस्तित्व की रक्षा करे—वही चेतना वास्तव में काम की है।

समाज में भी कई प्रकार की भिन्नता है। एक समाज दूसरे समाज से भिन्नता रखता है। खान-पान, वेशभूषा, भाषा आदि सब भिन्न-भिन्न होते हैं। फिर भी सब एक-दूसरे का आदर करते हैं, सम्मान करते हैं। भारतीय संस्कृति तो इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसी प्रकार जातियां, सम्प्रदाय आदि सह-अस्तित्व से अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। पारिवारिक, सामाजिक, जातीय, साम्प्रदायिक शांति एवं सौहार्द बनाए रखने में सह-अस्तित्व का विशेष महत्त्व है। सह-अस्तित्व के द्वारा राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की समस्याओं का समाधान बहुत आसानी से हो सकता है। कोई राष्ट्र अमीर है, कोई गरीब है—यह साधनों की दृष्टि से है। फिर भी व्यक्ति की चेतना एक ही है। अत: सह-अस्तित्व के द्वारा आपसी मतभेद, द्वेष, हिंसा आदि को मिटाया जा सकता है।

6.1 सह-अस्तित्व का स्वरूप

सह-अस्तित्व दो शब्दों से मिलकर बना है—सह + अस्तित्व। अर्थात् साथ में अस्तित्व, समान अस्तित्व। यह अनेकांत का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। भगवान् महावीर ने कहा है कि दो विरोधी धर्म एक साथ रह सकते हैं। जैसे—नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, अच्छा-बुरा आदि। ये आपस में एक-दूसरे के विपरीत हैं, फिर भी एक साथ इनका अवस्थान है। एक साथ रहते हैं। इस जगत् में एक भी ऐसा तत्त्व नहीं है जो सर्वथा अकेला है। उसका प्रतिपक्षी अवश्य ही है। अर्थात् सह-अस्तितव में विपरीत धर्म एक साथ रहते हैं। अत: इस प्रकृति में प्रत्येक तत्त्व का अस्तित्व है। यदि अस्तित्व ही न होता है तो प्रकृति में कोई होता ही नहीं। मनुष्य का जितना अस्तित्व है, उतना ही अस्तित्व एक चींटी का है, एक पशु का है, एक कीट का है, एक पतंग का है। इसी प्रकार वनस्पति जगत् में भी यही नियम लागू होता है। एक बरगद के पेड़ का अस्तित्व है तो एक काई का, शैवाल का भी अपना अस्तित्व है। अत: बड़े के संदर्भ में छोटे को मिटाया नहीं जा सकता। उसके अस्तितव को कम भी नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति भले ही अपनी आसुरी प्रवृत्तियों के अधीन रहकर दूसरे के अस्तित्व को मिटाने को कटिबद्ध रहता है तो यह उसकी भूल है, उसकी मूर्खता है, उसकी मूढ़ता है। यह सत्य ही है कि किसी के अस्तित्व को मिटाकर व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता है। इस प्रकृति की प्रत्येक वस्तु किसी-न-किसी रूप में इस प्रकृति के उपयोगी हो सकती है। इस प्रकृति पर रहने वाले प्राणियों के लिए उपयोगी हो सकती है। इसलिए व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने अस्तित्व की जितनी चिन्ता करता है उतनी ही दूसरे के अस्तित्व की रक्षा का चिंतन भी करे। व्यक्ति अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए जितना संघर्ष करता है, प्रत्येक प्राणी में भी यह भावना पाई जाती है। भले ही संघर्ष का सिद्धान्त भिन्न हो। भौतिक आवश्यकताएँ व्यक्ति और पशुओं में समान होती हैं तब भिन्नता नहीं हो सकती है। मन, बुद्धि के विकास के अभाव और आवश्यकताएँ उनमें व्यक्ति के समान नहीं पाई जाती हैं तो इसमें उनका दोष नहीं है। वह प्रकृति प्रदत्त है। इसलिए प्रत्येक प्राणी के अस्तित्व को बनाए रखना ही धर्म है।

6.2 सह-अस्तित्व का परिणाम

अन्य प्राणियों तथा प्रकृति की सुरक्षा करना सह-अस्तित्व का ही परिचायक है। व्यक्ति यह न सोचे कि इससे उन्हें क्या लाभ ही मिलेगा? स्वार्थ की क्या पूर्ति होगी? यह एकांगी विचारधारा है। जहां व्यक्ति के स्वार्थ की पूर्ति नहीं होती है, क्या उसका अस्तित्व नहीं है, अवश्य ही है। व्यक्ति स्वार्थ चेतना से परमार्थ चेतना का विकास करे तो वह सबके अस्तित्व को स्वीकार कर सकेगा।

1. यह प्रकृति जो व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रही है, उसका महत्त्व कम नहीं है। यदि सह-अस्तित्व की चेतना को विकसित न किया जाए तो व्यक्ति इसे भी सुरक्षित न रख पाए। ऐसा नहीं है कि व्यक्ति इसकी उपयोगिता नहीं समझता है। वह अवश्य ही उपयोगिता को समझता है पर कई बार स्वार्थवश वह प्रकृति को भी क्षति पहुंचाता है। अत: सह-अस्तित्व का विकास होने से व्यक्ति आवश्यकता से अधिक वस्तुओं को ग्रहण नहीं करेगा। प्रकृति की रक्षा करेगा, पर्यावरण को सुरक्षित रख सकेगा।

2. इसका परिणाम होगा शांति एवं सुखद जीवनयापन। जीएँ और जीने दें—सर्वत्र यही भावना रहेगी। इसलिए सह-अस्तित्व जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करता है। अत: सभी क्षेत्रों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

6.3 सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा

सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. लयबद्ध दीर्घश्वास — 5 मिनट
3. भस्त्रिका — 5 मिनट
4. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
5. संकल्प (5 मिनट उच्चारण पूर्वक, 5 मिनट मन्द उच्चारण, 5 मिनट मानसिक अनुचिंतन) — 15 मिनट
   चित्त को आनन्द-केन्द्र पर केन्द्रित कर संकल्प करें—''मैं शांतिपूर्ण सहवास का अभ्यास करूंगा। मैं विध्वंसात्मक एवं आक्रामक प्रवृत्ति का समर्थन नहीं करूंगा।''
6. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग को सम्पन्न करें।

सारांश

मानसिक मूल्यों का संबंध मन से होता है। मन के क्रियाकलाप बड़े विचित्र होते हैं। मन शत्रु भी बनता है तो मित्र भी बनता है। यदि इसे प्रशिक्षित किया जाए, संतुलित किया जाए तो यह जीवन व्यवहार एवं विकास में बहुत सहायक बनता है।

मानसिक संतुलन—मानसिक संतुलन का अर्थ है—मन के क्रियाकलापों का संतुलन अर्थात् स्मृति चिन्तन और कल्पना का संतुलन।

मानसिक असंतुलन के कारण—मानसिक असंतुलन के निम्न कारण हैं, जैसे—असंतुलित भाव, आग्रही चिन्तन, अति उत्तेजना, नाड़ी तंत्र की दुर्बलता, अति उत्तरदायित्व, पक्षपात, असंतुलित आहार आदि।

मानसिक संतुलन के उपाय—मानसिक संतुलन के निम्न उपाय हैं—सकारात्मक भावधारा का निर्माण, लक्ष्य का निर्माण, समय का सदुपयोग, कर्त्तव्यनिष्ठा एवं प्रामाणिकता का व्यवहार, न्यायपूर्ण व्यवहार, त्याग की चेतना, सहयोग की भावना आदि।

धैर्य—सफल जीवन के लिए आवश्यक है—धैर्य। कहा जाता है कि धैर्य का फल मीठा होता है। सभी कार्यों का परिणाम तत्काल ही मिल जाए, संभव नहीं है। कुछ परिणाम समय आने पर ही मिलते हैं। अत: व्यक्ति को तब तक धैर्य बनाए रखना चाहिए।

धैर्य के सुपरिणाम—धैर्य सम्पन्नता से अनेक लाभ मिलते हैं—व्यक्ति प्रसन्न रहता है, शक्तियों का समायोजन होता है, मानसिक विचारों का संगठन रहता है, कर्म के प्रति आस्था बढ़ती है, रचनात्मक कार्यों में संलग्नता रहती है, सद्मार्ग की ओर प्रवृत्ति रहती है।

नैतिक मूल्य—जो व्यवहार अथवा कार्य स्व-हित ही नहीं वरन् परहित की दृष्टि से होता है, वह नैतिकता के अन्तर्गत आता है। इसीलिए नैतिक मूल्यों को महत्त्व दिया गया है। ये मूल्य अनेक हैं पर कुछ मूल्य निम्न हैं—

1. प्रामाणिकता—प्रामाणिकता का अर्थ है—ईमानदारी, सत्य का व्यवहार, मुख्यतया प्रामाणिकता के तीन प्रकार हैं—वचन की प्रामाणिकता, अर्थ की प्रामाणिकता और व्यवहार की प्रामाणिकता।

2. करुणा—करुणा मानवीय संवेदना का मूर्त्त रूप है। यह अन्त:स्थल से बहने वाला एक ऐसा स्रोत है, जो किसी के दु:ख से द्रवित हो जाता है। करुणा अहिंसा का आधार है। करुणा के अनेक सुपरिणाम होते हैं, जैसे—अहिंसा की भावना पुष्ट होती है, सभी प्राणियों के अस्तित्व की रक्षा करती है। असत् से बचाती है, मैत्री का विकास करती है, आचार को पवित्र रखती है एवं स्वस्थ समाज का संरक्षण करती है।

3. आत्मानुशासन—आत्मानुशासन का अर्थ है—स्वयं पर नियंत्रण, आत्मानुशासी व्यक्ति जीवन के क्षेत्र में सफलता का वरण करता है। जिस व्यक्ति में आत्मानुशासन होता है, वह स्वतंत्र होता है। अर्थात् परानुशासन से वह मुक्त होता है। आत्मानुशासन के विकास के लिए शारीरिक अनुशासन महत्त्वपूर्ण माना गया है।

4. सह—अस्तित्व—सह-अस्तित्व का अर्थ है—साथ में सबका अस्तित्व होना। सब समान हैं, सबकी आत्मा समान है। सह-अस्तित्व का महत्त्व परिवार, समाज, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तथा सम्पूर्ण प्राणी जाति के स्तर पर है। सह-अस्तित्व में एक-दूसरे की सत्ता को स्वीकार करना है। इसी में मानव जाति का, प्राणी जाति का सुख-चैन निहित है।

प्रश्नावली

1. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रामाणिकता के प्रकारों को समझाइए।
2. सह-अस्तित्व के महत्त्व एवं स्वरूप को समझाइए।

2. निबंधात्मक प्रश्न

1. मानसिक असंतुलन के कारण तथा उसके उपयों को समझाइए।

इकाई–5– मूल्य प्रशिक्षण–2

पाठ–10– वैयक्तिक मूल्य

रूपरेखा

1.0 अनासक्ति

1.1 अनासक्ति का महत्त्व
1.2 अनासक्ति का स्वरूप
1.3 अनासक्ति के परिणाम
1.4 अनासक्ति की अनुप्रेक्षा

2.0 सहिष्णुता

2.1 सहिष्णुता का स्वरूप
2.2 असहिष्णुता के दुष्परिणाम
2.3 सहिष्णुता के सुपरिणाम
2.4 सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा

3.0 मृदुता

3.1 मृदुता के प्रकार
3.2 मृदुता का परिणाम
3.3 मृदुता की अनुप्रेक्षा

4.0 अभय

4.1 अभय का परिणाम
4.2 अभय की अनुप्रेक्षा

5.0 सारांश

उद्देश्य

इस पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है—

1. अनासक्ति तथा इससे संबंधित पक्षों को समझ सकेंगे।
2. सहिष्णुता के स्वरूप को समझ सकेंगे।
3. असहिष्णुता के दुष्परिणामों को समझ सकेंगे।
4. सहिष्णुता के सुपरिणामों को समझ सकेंगे।
5. मृदुता तथा इसके प्रकारों को समझ सकेंगे।
6. मृदुता के महत्त्व को समझ सकेंगे।
7. अभय तथा इसके परिणामों को समझ सकेंगे।

भूमिका

व्यक्ति जीवन के दो पक्ष हैं—वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन। व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन भले ही समाज में होता है, फिर भी व्यक्ति का वैयक्तिक जीवन भी बहुत महत्त्व रखता है। उसके कुछ वैयक्तिक मूल्य हैं। ये उसके आन्तरिक हैं। यों तो सभी मूल्यों का स्रोत व्यक्ति का अन्तर्जगत् है। उनकी परिणति बाहर होती है। व्यवस्था की दृष्टि से मूल्यों को भिन्न–भिन्न वर्गों में बांट दिया। वैयक्तिक मूल्य भी उनमें हैं। ये मूल्य व्यक्ति के सुखद एवं शांतिपूर्ण जीवन जीने में सहायक होते हैं। व्यक्ति के इस पदार्थ जगत् की सुविधाओं के होने मात्र से ही सुख प्राप्त नहीं हो जाता है। जब तक अन्त:स्थल में सुख, शांति के बीज

नहीं होंगे तब तक व्यक्ति उस वातावरण को अनुभव ही नहीं कर सकता है। अत: वैयक्तिक मूल्य व्यक्ति को स्वस्थ सामाजिक जीवन जीने के लिए प्रेरित करते हैं। व्यक्ति बाह्य वातावरण के साथ तभी संतुलन स्थापित कर सकता है जब उसका आंतरिक पक्ष सुदृढ़ हो। वैयक्तिक मूल्यों को व्यक्ति जितना अधिक महत्त्व देगा, व्यक्ति की अनेक समस्याओं का समाधान स्वत: हो जायेगा। व्यक्ति तब केवल बाह्य जगत् ही नहीं वरन् आध्यात्मिक जगत् की यात्रा कर सकेगा। वैयक्तिक मूल्यों में निम्न मूल्य प्रमुख हैं—

1.0 अनासक्ति का महत्व

आसक्ति समस्या है तो अनासक्ति समाधान है। व्यक्ति अपने जीवन में आसक्ति के कारण ही वस्तुओं का संग्रह करता है, दूसरों का गला घोंटता है, दूसरों को क्षति पहुंचाता है। इसका सर्वथा वर्जन होना चाहिए। व्यक्ति जितना आसक्त भाव से रहता है, वह उतना ही दु:खी रहता है, परेशान रहता है। वह चैन की नींद नहीं सो सकता है। शरीर की चिन्ता, परिजन की चिन्ता, पदार्थ की चिन्ता उसे सताती रहती है। ऐसा व्यक्ति स्वतंत्रता का जीवन जी नहीं सकता है। वह सर्वथा बंधन में रहता है। बंधन स्वयं ही समस्या है। व्यक्ति वर्तमान की चिन्ता नहीं करता है, भविष्य के लिए चिन्तित रहता है। पदार्थ का उपभोग भी ढंग से नहीं करता है, उसे बचाता है। यही क्रम चलता रहता है। अत: वह तीनों कालों में अतृप्त ही रहता है, दु:खी ही रहता है। आध्यात्मिक जीवन में आसक्ति बहुत बड़ा शत्रु है। शरीर के प्रति आसक्ति होगी तो साधना नहीं कर पाएगा। भोजन के प्रति आसक्ति होगी तब भी साधना में व्यवधान रहेगा। इसी प्रकार व्यक्ति न जाने आसक्ति से अपने जीवन के कितने महत्त्वपूर्ण क्षणों को गंवा बैठता है। इसी प्रकार पदार्थ के प्रति आसक्ति का दृष्टिकोण व्यक्ति को एक संकुचित दायरे में ही बांध कर रखता है। सुखी जीवन के लिए आवश्यक है व्यक्ति पदार्थ की उपयोगिता को समझे, उसमें बंधे नहीं। व्यक्ति जब बंध जाता है तो वह फिर आसानी से बाहर नहीं निकल पाता है। वह पदार्थ को छोड़ना ही नहीं चाहता है। ऐसे में व्यक्ति दूसरों का भला भी नहीं कर सकता है।

1.1 अनासक्ति का स्वरूप

अनासक्ति दो शब्दों से मिलकर बनी है—अन+आसक्ति। अर्थात् आसक्ति का अभाव। व्यक्ति आसक्ति का जीवन जीता है। वह उपयोगिता की वस्तु को आसक्ति की दृष्टि से ही देखता है। लगभग सभी व्यक्तियों में कुछ-न-कुछ अंशों में आसक्ति भाव रहता ही है। शरीर के प्रति, पदार्थ के प्रति आदि-आदि। बड़े-बड़े बुद्धिजीवी भी शायद इस शरीर के प्रति आसक्ति रखते हैं। यह उनका भी दोष नहीं कहा जा सकता है। यह प्रकृतिप्रद ही होगा। कोई भी व्यक्ति, कोई प्राणी मरना नहीं चाहता है, वह जीना चाहता है। प्राणी का सबसे बड़ा स्वार्थ है—प्राणरक्षा। इसी के लिए वह संघर्ष करता है। इसी के लिए वह अर्थ जुटाता है। तत्पश्चात् वह परिवार की सोचता है। अर्थ और परिवार की रक्षा के लिए कानून की व्यवस्था करता है। अत: कहा जा सकता है कि इस प्राण-रक्षा के पीछे ही सारा व्यापार है। अत: इसके प्रति अनासक्ति का भाव भी सहजतया नहीं आ सकता है। इसी प्रकार पदार्थ के प्रति व्यक्ति आसक्ति का भाव रखता है। यह स्वाभाविक है। क्या आसक्ति सर्वथा उचित है—इस पर विचार करने पर प्रतीत होता है कि आसक्ति और अनासक्ति की सीमा होनी चाहिए। यह भी सत्य है कि सभी व्यक्ति अनासक्त भाव से जीने वाले नहीं होते हैं। फिर भी इसकी सीमा को समझा जा सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं कि प्रवृत्ति जीवन के लिए अनिवार्य है। मन, वाणी और शरीर—ये तीनों प्रवृत्तियों के साधन हैं। इन्हें जीवन रहते छोड़ा भी नहीं जा सकता है। शरीर और प्रवृत्ति का संबंध है। प्रवृत्ति और निवृत्ति को छोड़ा नहीं जा सकता है। समस्या आसक्ति की है तो समस्या अनासक्ति की भी है। यदि अनासक्त होना है तो निवृत्ति लानी ही होगी। निवृत्ति का आधार है—अनासक्ति। निवृत्ति में से जो प्रवृत्ति निकलती है, वह है—अनासक्ति। वास्तव में जब व्यक्ति सतत् प्रवृत्ति में लीन रहता है, सतत् क्रियाशील रहता है तो उससे जीवन में अस्त-व्यस्तता आ जाती है। उदाहरण के लिए व्यक्ति दिन भर आहार ही करता रहे तो वह अस्वस्थ हो जाएगा। इसके लिए आवश्यक है आहार और अनाहार का संतुलन रखना। सामान्यतया व्यक्ति तब आहार लेता है जब पहले लिया हुआ पच जाए। यही स्वास्थ्य का आधार है। अत: यहां पर आहार से अधिक मूल्य अनाहार का है। अत: नितान्त प्रवृत्ति आसक्ति को पैदा करती है। प्रवृत्ति के पीछे-पीछे निवृत्ति चलेगी तो क्रिया अच्छी होगी। यदि व्यक्ति प्रत्येक क्रिया के साथ निवृत्ति जोड़ दे तो अनासक्ति स्वत: सध जाएगी। जैसे व्यक्ति खाने के साथ, सोने के साथ, बोलने के साथ, सोचने के साथ आदि-आदि। कोरी प्रवृत्ति से जीवन टूट जाता है। मानसिक और शारीरिक विकृतियां पैदा हो जाती हैं। वह जीवन नारकीय जीवन बन जाता है। अत: व्यक्ति आवश्यकता और अनासक्ति की सीमा बना ले और बीच की आसक्ति को समझे। आवश्यकता और अनासक्ति के बीच में निवृत्ति का धागा जुड़ने से आसक्ति कम हो जाएगी। परिणाम यह होगा कि आवश्यकता के प्रति अनासक्ति बढ़ेगी और अनासक्ति आवश्यकता को कम करेगी।

1.3 अनासक्ति के परिणाम

अनासक्ति के अभ्यास से व्यक्ति में अनेक गुण विकसित होते हैं।

1. वह स्वतंत्रता का जीवन जीता है।
2. वह अनावश्यक संग्रह नहीं करता, केवल आवश्यक का ही संग्रह करता है।
3. वह पदार्थ का सही उपयोग करता है।
4. वह वर्तामन में जीने का प्रयास करता है।
5. वह सामान्यतया दु:खी नहीं होता। निश्चिंत जीवन जीता है।
6. उसका दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है।

1.4 अनासक्ति की अनुप्रेक्षा

अनासक्ति की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. नीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
   ''श्वास के साथ नीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।'' — 3 मिनट
4. विशुद्धि-केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान करें। — 3 मिनट
5. शांति-केन्द्र पर चित्त केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें (9 बार उच्चारण, 9 बार मानसिक जप)—
   ''अनासक्ति का विकास हो रहा है। पदार्थ के प्रति मूर्च्छा का भाव क्षीण हो रहा है।'' — 5 मिनट
6. अनुचिंतन करें—''मैं पदार्थ की प्रकृति को जानता हूँ। वह मेरे लिए उपयोगी है। उससे मुझे सुविधा मिलती है, किन्तु सुख और शांति नहीं। ये मेरे आंतरित गुण हैं। मैं संकल्प करता हूँ कि मैं पदार्थ के प्रति मूर्च्छित नहीं बनूंगा। दा अपने प्रति जागरूक रहूंगा।'' — 10 मिनट
7. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। — 2 मिनट

2.0 सहिष्णुता

यह जीवन दु:ख-सुख का संगम है। प्रतिदिन अनेक घटनाएँ घटित होती रहती हैं। यदि व्यक्ति इन्ही घटनाओं से अपने आप को नियंत्रित नहीं कर पाया अथवा इन्हें सहन नहीं कर पाया तो उसका जीवन वास्तव में दूभर हो जाएगा। सहिष्णुता की शक्ति बहुत बड़ी शक्ति है। जिस व्यक्ति ने सहन कर लिया, वह व्यक्ति कई सन्दर्भों में सुखी रहता है। सर्दी को सहना, गर्मी को सहना, भूख-प्यास को सहना आदि अनेक ऐसी परिस्थितियां हैं जो व्यक्ति के जीवन में आती ही रहती हैं। अत: व्यक्ति चाहते न चाहते हुए भी इन परिस्थितियां को किसी भी रूप में, कितनी ही मात्रा में सहन करता ही है क्योंकि यही उसका समाधान भी होता है।

2.1 सहिष्णुता का स्वरूप

सहिष्णुता का अर्थ है—सहन करना। सामान्यत: जब सहन करने की बात आती है, वहां विषम परिस्थितियां अथवा दु:ख ही होते हैं। सहन करना जीवन के लिए आवश्यक भी हैं। सहिष्णुता एक ऐसा मूल्य है, जो व्यक्ति की सकारात्मक सोच का ही परिणाम है अर्थात् सकारात्मक सोच वाला व्यक्ति ही वास्तव में सहन करता है। उसके भीतर बदले की भावना भी नहीं होती है। एक ओर तो सहन कर लिया पर दूसरी ओर नकारात्मक क्रियान्विति हो तो सहन करने का मूल्य ही घट जाता है। बड़ा व्यक्ति वही होता है जो सच्चे हृदय से प्रत्येक परिस्थिति को सहन करता है। विरोधी विचार, विरोधी स्वभाव, विरोधी रुचि आदि विरोधों को वही व्यक्ति सहन कर सकता है जिसके भीतर सहिष्णुता का गुण विद्यमान है। वह इस गुण से सामने वाले व्यक्ति को प्रभावित भी करता है। अत: सहिष्णुता केवल बाह्याडंबर नहीं अपितु अन्त:स्थल से बहने वाला एक ऐसा स्रोत है जो सर्वत्र प्रवाहित होता है। यह व्यक्ति के सोच का ही परिणाम है कि वह कठिन से कठिन परिस्थिति को भी सहजतया सहन कर लेता है। सामान्य सोच वाला व्यक्ति सहन नहीं कर पाता है। उसके लिए छोटी सी घटना भी असहनीय हो जाती है तो बड़ी घटना का तो कहना ही क्या। अर्थात् सामान्य व्यक्ति की सोच इतनी विकसित नहीं होती कि वह प्रत्येक अप्रिय घटना अथवा विषम परिस्थिति को भी सहना

जाने। इसके विपरीत व्यापक सोच वाला व्यक्ति, विकसित सोच वाला व्यक्ति प्रत्येक घटना को सामान्य समझकर स्वीकार कर लेता है और जीवन में उसका नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ने देता है।

आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं कि यह जगत् समस्याबहुल और दु:खबहुल है। इस दुनिया में ऐसा व्यक्ति नहीं जन्मा है जिसने किसी-न-किसी समस्या या दु:ख का सामना न किया हो। हर व्यक्ति के जीवन में दु:ख आते हैं, समस्याएँ आती हैं। कमजोर व्यक्ति न समस्याओं का और न दु:खों का सामना कर सकता है। वह रोते-रोते ही जीवन जीता है। यह दुनिया उन्हीं को जीने देती है जो कष्टों को झेलना जानता है, सहना जानता है। अत: इससे स्पष्ट है कि जीने के लिए सहना भी होता है।

2.2 असहिष्णुता के दुष्परिणाम

जो व्यक्ति सहन नहीं कर पाता है, वहां एक नहीं अनेक समस्याएँ आती हैं। इन समस्याओं के दुष्परिणाम भी कम नहीं होते हैं। कुछ दुष्परिणाम इस प्रकार हैं—

1. शारीरिक स्तर पर

व्यक्ति जब सहन करना नहीं जानता है अथवा वह सहन नहीं कर पाता है तो ऐसी स्थिति उसके शारीरिक स्तर को भी प्रभावित करती है। यदि व्यक्ति छोटी-छोटी बातों को लेकर उत्तेजित हो जाता है अथवा दु:खी हो जाता है तो इसका दुष्प्रभाव शारीरिक स्तर पर भी पड़ता है। अति उत्तेजित होने पर अथवा क्रोध की अवस्था में एड्रीनलीन नामक हार्मोन में वृद्धि पाई जाती है। यदि यह स्थिति लम्बे समय तक बनी रहे तो तत्संबंधी ग्रंथियां अथवा अवयव असंतुलित हो जाते हैं। इसी प्रकार अनुकंपी तंत्र की सक्रियता बनी रहती है। दूसरी ओर निराशा-हताशा की स्थिति में पैरासिम्पेथेटिक नाड़ी-तंत्र अधिक सक्रिय रहता है। अत: यह स्थिति भी लम्बे समय तक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक कही जाती है। कहने का तात्पर्य है कि शरीर का प्रत्येक तंत्र संतुलित रहने से ही शरीर स्वस्थ रहता है पर असहिष्णुता इस शरीर को भी नकारात्मक रूप से प्रभावित करती है।

2. मानसिक स्तर पर

असहिष्णुता व्यक्ति को मानसिक स्तर पर कमजोर बना देती है। इससे व्यक्ति में चिड़चिड़ापन, उदासी, तनाव, हीनभावना, निराशा, आत्महत्या जैसी प्रवृत्तियां भी घटित होती हैं। मानसिक स्तर को कुंठित कर देती है, साथ ही हानिकारक प्रभाव छोड़ती है। व्यक्ति की सोचने-समझने की शक्ति प्रभावित होती है। स्मृति का लोप होने लगता है। कार्यक्षमता एवं निर्णयक्षमता प्रभावित होती है। अत: यह स्पष्ट है कि सहिष्णुता के अभाव में मानसिक क्रियाकलापों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

3. मनोदैहिक स्तर पर

व्यक्ति का व्यवहार मनोदैहिक स्तर पर कार्य करता है। अर्थात् व्यक्ति की सारी क्रियाएँ केवल न तो शरीर द्वारा संचालित होती हैं और न ही मन द्वारा वरन् ये दोनों का समन्वित रूप हैं। असहिष्णुता के दुष्प्रभाव केवल शारीरिक ही नहीं होते या केवल मानसिक ही नहीं होते वरन् शरीर तथा मन दोनों पर भी समान रूप से लागू होते हैं। अत: इस समस्या से मनोदैहिक समस्या भी पैदा हो जाती है। शरीर का कोई भी तंत्र इस समस्या का शिकार हो सकता है। साथ ही उस समस्या का समाधान भी तभी हो सकता है जब मानसिक समस्या दूर हो। अत: इस प्रकार की मानसिक समस्याएँ कई और जटिल समस्याओं को उत्पन्न करती हैं।

4. सामाजिक स्तर पर

असहिष्णुता से व्यक्ति ही नहीं वरन् उसका परिवार व उसका समाज भी प्रभावित होता है। सहन न करने से परिवार में कलह, अशांति, अलगाव आदि समस्याएँ प्रमुख हैं। पारिवारिक विघटन का यह एक प्रमुख कारण है—सहन न करना। एक-दूसरे को सहन न करने का तात्पर्य है दूसरे के अस्तित्व का अस्वीकार। ऐसी स्थिति में व्यक्ति स्वयं भी सुखी नहीं रह सकता है। इसी प्रकार सामाजिक स्तर पर असहिष्णुता अनेक बुराइयों को जन्म देती है।

5. अन्य

जीवन के अनेक पक्ष हैं। इसलिए उसके क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न होते हैं। व्यावसायिक पक्ष जीवन का प्रमुख क्षेत्र है। असहिष्णुता की समस्या वहां भी नकारात्मक प्रभाव ही छोड़ती है। व्यक्ति अपने इस व्यावसायिक अंग में भी सफलता प्राप्त नहीं कर पाता है। इसी प्रकार राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की समस्याएँ भी कई बार असहिष्णुता के कारण ही होती हैं जिससे एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को क्षति पहुंचाते हैं। अत: स्पष्ट है कि व्यक्ति का व्यवहार यदि नकारात्मक हो तो वह सर्वत्र समस्या ही बनता है।

2.3 सहिष्णुता के सुपरिणाम

सहिष्णुता के प्रमुख सुपरिणाम निम्न हैं—

1. व्यक्ति का मनोबल बढ़ता है।
2. अनेक संभावनाओं को व्यक्त करता है।
3. प्रसन्न चित्त रहता है।
4. धैर्य का विकास होता है।
5. प्रतिरोध क्षमता बढ़ती है।
6. सामाजिक संबंधों में मधुरता रहती है।
7. वैश्विक संबंध मधुर रहते हैं।
8. आध्यात्मिक विकास होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सहिष्णुता जीवन में आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है। इसी से वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन को सुखद एवं शांतिपूर्ण बनाने के लिए सहायता मिलती है।

2.4 सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा

सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. नीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
   ''श्वास के साथ नीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।'' — 3 मिनट
4. विशुद्धि-केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान करें। — 3 मिनट
5. ज्योति-केन्द्र पर चित्त केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें (9 बार उच्चारण, 9 बार मानसिक जप)—
   ''सहिष्णुता का भाव पुष्ट हो रहा है। मानसिक संतुलन बढ़ रहा है।'' — 5 मिनट
6. अनुचिंतन करें—
   (1) शारीरिक संवेदन
      — ऋतुजनित संवेदन
      — रोगजनित संवेदन
   (2) मानसिक संवेदन
      — सुख-दु:ख
      — अनुकूलता-प्रतिकूलता
   (3) भावात्मक संवेदन
      — विरोधी विचार
      — विरोधी स्वभाव
      — विरोधी रुचि

   ये संवेदन मुझे प्रभावित करते हैं किन्तु इनके प्रभाव को कम करना है। यदि इनका प्रभाव बढ़ा तो शक्तियां क्षीण होंगी। जितना इनसे कम प्रभावित होऊँगा, उतनी ही मेरी शक्तियां बढ़ेंगी। इसलिए सहिष्णुता का विकास मेरे जीवन की सफलता का महामंत्र है। — 10 मिनट
7. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। — 2 मिनट

बोध प्रश्न

---

1. अनासक्ति का अर्थ क्या है?
2. प्रवृत्ति के साधन क्या हैं?
3. सहिष्णुता का क्या अर्थ है?
4. व्यक्ति का व्यवहार किसका समन्वित रूप है?
5. पारिवारिक विघटन का एक प्रमुख कारण क्या है?

3.0 मृदुता

मृदुता का अर्थ है—शिष्ट एवं विनम्र व्यवहार, मधुर व्यवहार। मृदुता वैयक्तिक मूल्य होते हुए भी सामाजिक जीवन की सफलता का सूत्र है। इसके द्वारा व्यक्ति के जीवन में सरसता रहती है। मृदु स्वभाव वाला व्यक्ति अपनी वाणी की, व्यवहार की मृदुता से सर्वत्र समायोजन बना लेता है। अर्थात् वह वातावरण को अपने अनुकूल बना लेता है। यह भी देखा जाता है कि जो कार्य कठोर अनुशासन से नहीं होता है, वह मृदुता से हो जाता है। व्यक्ति की वाणी, उसका व्यवहार मृदु हो तो व्यक्ति सर्वत्र अपनापन पाता है, सर्वत्र दूसरों को अपना बना लेता है। नैतिक चेतना का सूत्र है—मृदु व्यवहार। इसके विपरीत जिन व्यक्तियों का व्यवहार कर्कश होता है, वे व्यक्तियों को ही नहीं वरन् पशुओं तक को नहीं छोड़ते हैं। उनके साथ क्रूर व्यवहार करते हैं। मृदुता व्यक्ति के व्यवहार को परिष्कृत करती है, उसे मांजती है। मृदु व्यक्ति सबका प्रिय होता है क्योंकि वह किसी को दु:ख नहीं पहुंचाता है। मृदुता से अनाग्रह की चेतना भी विकसित होती है।

3.1 मृदुता के प्रकार

मृदुता के दो प्रकार हैं—प्रतीयमान मृदुता और यथार्थ मृदुता।

1. प्रतीयमान मृदुता—इस प्रकार की मृदुता का पालन करने वाला व्यक्ति केवल बाह्य दृष्टि से ही विनम्र होता है, मृदु होता है पर वास्तव में वह ऐसा नहीं होता है। भीतर में उसके अनेक अवगुण विद्यमान रहते हैं। ऐसा व्यक्ति दूसरों को ठगता है, धोखा देता है। व्यवहार में ऐसे ही व्यक्ति अधिकतर पाये जाते हैं जो दिखावा करते हैं। इससे वह अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने में कई बार सफल हो जाते हैं और अपनी स्वार्थपूर्ति भी कर लेते हैं। व्यक्ति ऐसे व्यवहार को तुरन्त नहीं पहचान पाता है। ऐसा व्यक्ति बोलने का ही होता है। देखने में बड़ा व्यवहार कुशल लगता है। दूसरों का बड़ा हितेषी भी बनता है। वास्तविकता कुछ और ही होती है। दूसरों को प्रभावित करना एक कला होती है। यह व्यवसाय का भी एक अंग है। व्यापारी बड़े ही मृदु व्यवहार से अपना सड़ा-गला माल भी बेच देते हैं। कम कीमत की वस्तु को अधिक कीमत में बेच देते हैं। यह उनकी आजीविका का हिस्सा है पर वास्तव में सत्य तो उन्हें भी पता ही होता है। इसी प्रकार चोर-लुटेरे कई बार सामने वाले को बड़ा प्रभावित करते हैं। बाद में उन्हें ही लूट लेते हैं। यह मृदुता वास्तव में व्यक्ति के अहित का कारण बनती है।

2. यथार्थ मृदुता—यथार्थ मृदुता वह है जिसका स्रोत भीतर में बहता है। वह केवल व्यवहार की नहीं होती, वह बनावटी नहीं होती है वरन् वास्तविक होती है। यह मृदुता व्यक्ति के साथ मधुर संबंधों का निर्माण करती है। दूसरे के कटु व्यवहार को धो डालती है। यह सर्वत्र मधुरता ही मधुरता फैलाती है। ऐसे व्यवहार की सुवास दूर-दूर तक होती है। उसके संबंधों का विस्तार होता है। मृदुता में आकर्षण का गुण पाया जाता है। अर्थात् ऐसे व्यवहार के प्रति व्यक्ति आकर्षित होते हैं। यह व्यवहार सर्वत्र प्रसन्नता का माहौल पैदा करता है। अत: यथार्थ मृदुता में बहुत बड़ी शक्ति है।

3.2 मृदुता का परिणाम

वैयक्तिक जीवन में मृदुता व्यक्ति को प्रसन्नचित्त रखती है। प्रसन्नचित्त व्यक्ति का दृष्टिकोण सकारात्मक होता है। ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही उत्तेजित नहीं हो पाता है क्योंकि उसका अपने पर नियंत्रण होता है। उसमें विनय होता है। विनयशील व्यक्ति के स्वभाव में लचीलापन पाया जाता है। अत: व्यक्ति वैयक्तिक जीवन में इस मूल्य के द्वारा अनेक मूल्यों का विकास कर सकता है।

मृदु व्यक्ति सामाजिक जीवन को भी बड़े अच्छे ढंग से जीता है। समाज में अनेक स्वभाव के व्यक्ति रहते हैं। कोई कठोर होता है, कोई अप्रामाणिक होता है, कोई कमजोर होता है तो कोई शक्तिसम्पन्न। इन सबके रहते हुए अनेक सामाजिक समस्याएँ भी पैदा होती हैं। ऐसे समय में सभी व्यक्ति उन समस्याओं का समाधान भी नहीं कर पाते हैं। मृदु व्यक्ति अपने व्यवहार से उन समस्याओं का समाधान खोज लेता है। उसके पास वाणी विवेक होता है। मधुर वाणी से, मधुर व्यवहार से सामाजिक संबंधों को भी मधुर बनाने में सफल होता है।

मृदुता केवल परिवार, समाज को ही प्रभावित नहीं करती है वरन् प्राणी जगत् को प्रभावित करती है। पशु भी प्रेम की भावना समझता है। मृदु व्यवहार को समझता है। यहां तक कि वनस्पति जगत् में भी यह संवेदना है कि वह इस भाषा को समझते हैं। कहने का तात्पर्य है कि प्राणधारी सभी प्राणी मृदु व्यवहार से प्रभावित होते हैं जिसका अनुभव सदैव सुखद ही होता है। अत: इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि व्यक्ति का मृदु व्यवहार चेतन जगत् को सकारात्मक रूप से प्रभावित करता है इसलिए इसका महत्त्व बहुत अधिक है।

3.3 मृदुता की अनुप्रेक्षा

मृदुता की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. हरे रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
   ''श्वास के साथ हरे रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।'' — 3 मिनट
4. दर्शन-केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान करें। — 3 मिनट
5. शांति-केन्द्र पर चित्त केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें (9 बार उच्चारण, 9 बार मानसिक जप)—
   ''मृदुता का भाव पुष्ट हो रहा है। अहम् का भाव क्षीण हो रहा है।'' — 5 मिनट
6. अनुचिंतन करें—
   (1) व्यक्ति और वस्तु के प्रति मेरा व्यवहार विनम्र होना चाहिए।
   (2) शक्ति के प्रति विनम्र भाव, जो मैं कहता हूँ वही सत्य है—इस आग्रह से बचने का मनोभाव।
   (3) मुझे अपने अहं का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।
   (4) कृतज्ञता ज्ञापन के लिए साधुवाद, धन्यवाद देना, सत्य प्रकृति का अनुमोदन करना जीवन की सफलता का एक आवश्यक तत्त्व है।
   (5) अपनी भूल के लिए खेद प्रकट करना, अप्रिय व्यवहार हो जाने से क्षमा-याचना करना अपने आपको बड़ा बनाने का उपाय है। इन सबके प्रति मैं जागरूक बना रहूंगा। — 10 मिनट
7. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। — 2 मिनट

बोध प्रश्न

1. मृदुता का क्या है?
2. मृदुता के कितने प्रकार हैं?
3. किसका दृष्टिकोण सकारात्मक होता है?
4. सामाजिक जीवन को अच्छे ढंग से कौन जीता है?
5. मृदु व्यवहार का महत्त्व अधिक क्यों हैं?

4.0 अभय

अभय का अर्थ है—भय रहित होना, भय न होना, अनिष्ट की आशंका न होना। मनोविकास का आदि बिन्दु है—अभय। अर्थात् मानसिक विकास के लिए अभय का होना आवश्यक है। अत: अहिंसा के विकास का भी यह आदि बिन्दु रहता है। व्यक्ति हिंसा तब करता है जब वह भयभीत होता है। जो भी भय रहित होता है, वह हिंसा आदि अनेक बुराइयों से बच जाता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि भय सर्वथा बुरा ही है। भय इस सन्दर्भ में सही कहा जा सकता है जो व्यक्ति के लिए हितकर हो अथवा उसके विकास में सहायक हो। परीक्षा का भय एक आम बात है। यदि इस भय से विद्यार्थी अधिक अध्ययन करता है तो वह सकारात्मक भय कहा जा सकता है। दूसरी ओर यदि भय के कारण अध्ययन ही छूट जाए तो यह निषेधात्मक भय है। बुराई से डरना, गलत कामों से बचना व्यक्ति हित में है लेकिन भय से विकास ही अवरुद्ध हो जाना नकारात्मक भय है। अत: अभय की सार्थकता तभी कही जा सकती है जब भाव शुद्ध हों, मैत्रीपूर्ण हों। अभय अहिंसा का आधार है। अभय पर टिकी अहिंसा ही वास्तव में अहिंसा है। व्यक्ति अपने जीवन में अभय रहता है और दूसरों को अभयदान देता है तो वह व्यक्ति वास्तव में अहिंसक है।

सामान्यतया देखा जाता है कि जो व्यक्ति भयभीत होता है उसे सभी सताते हैं, परेशान करते हैं, दु:खी करते हैं। ऐसा व्यक्ति अपने जीवन में साधारण से साधारण कार्य को करने में भी असमर्थ होता है। शक्तियां होते हुए भी वे भय से कुण्ठित हो जाती हैं। भयभीत व्यक्ति ही अपने को बचाने के लिए हिंसा का सहारा लेता है। वह दूसरों को भी कष्ट देता है। अत: आवश्यक है कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अभय का वातावरण बना रहे। व्यक्ति समाज में हमेशा ही अभय चाहता है। यही समाज विकास का

भी आधार है। यदि समाज में भय ही भय सर्वत्र व्याप्त हो तो जीवन ही असुरक्षित हो जाएगा। फिर तो एक पाशविक प्रवृत्ति ही चारों ओर व्याप्त हो जाएगी। ऐसा समाज कभी प्रगति नहीं कर सकता है। इसलिए व्यक्ति विकास और समाज विकास के लिए आवश्यक है—अभय। अभय जीवनदान देता है। जीवनदान बहुत बड़ा पुण्य है, बहुत बड़ी अहिंसा है। प्रत्येक प्राणी प्राण रक्षा चाहता है, अपने लिए शुभ की कामना करता है। इसलिए अभय चेतन जगत् के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य तत्त्व है। दूसरों को अभयदान देकर ही व्यक्ति प्रसन्न रह सकता है, स्वतंत्र रह सकता है। समूचा प्राणी जगत् अभय चाहता है। एक छोटे से छोटे जीव को हिंसा की स्थिति में भयग्रस्त देखा जा सकता है। साथ ही अपनी रक्षा की एवज में प्रतिपक्षी हिंसा करते भी देखा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि भय वास्तव में व्यक्ति के व्यवहार को नकारात्मक बना देता है, दब्बू बना देता है अथवा हिंसक बना देता है। वनस्पति जगत् भी अहिंसक व्यक्ति को देखकर प्रसन्न होते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि अभय वास्तव में सर्वत्र सकारात्मक वातावरण को फैलाता है।

4.1 अभय का परिणाम

अभय तब प्रस्फुटित होता है जब व्यक्ति में एक नहीं वरन् अनेक मूल्यों का समावेश होता है। इसी प्रकार अभय की प्राप्ति होने से भी अनेक मूल्य स्वत: ही विकसित हो जाते हैं। अभय से सर्वत्र मैत्री का विस्तार होता है। सच्चा मित्र कभी किसी को धोखा नहीं दे सकता है। अत: अभय मैत्री को बढ़ाता है। अभय के लिए सहिष्णुता भी आवश्यक है तो अभय के द्वारा ही व्यक्ति जोखिमपूर्ण कार्यों में भी सफलता प्राप्त कर लेता है। अभय से व्यक्ति प्रसन्नचित्त रहता है तो दूसरों को भी प्रसन्न माहौल प्रदान करता है। अभय उत्साह को बढ़ाता है। आशावादी दृष्टिकोण निर्मित करता है, बुराइयों का प्रतिकार करता है। अभय सत्य का प्रतिपादक होता है। अत: सांसारिक जीवन में ही नहीं वरन् आध्यात्मिक जीवन में भी अभय का बहुत ही महत्त्व है। अभय वाला व्यक्ति ही साधना की अतल गहराइयों में प्रविष्ट हो सकता है। अभय ही सत्य का साक्षात्कार करवाता है। साधना काल में न जाने कौन-से संस्कार प्रस्फुटित हो जाएँ, न जाने क्या-क्या अनुभव होने लग जाए। इसे वही व्यक्ति देख सकता है जो अभय रखता है। धीरे-धीरे वह आगे की यात्रा की ओर प्रस्थान करता रहता है। कहने का तात्पर्य है कि वही व्यक्ति सुखी एवं आनन्दमय जीवन जी सकता है जो अन्य गुणों के साथ अभय का गुण भी विकसित कर लेता है। परिस्थितियां अनेक हैं जो व्यक्ति को पदच्युत करती रहती है। ऐसी स्थिति में यदि व्यक्ति अभय वाला हो तो वह कठिनाइयों से भी नहीं डरता है। उन कठिनाइयों को चीरकर सफलता का वरण करता है। अत: अभय एक ऐसा गुण है, ऐसा मूल्य है जो व्यक्ति के जीवन को नई रोशनी देता है, नई दिशा देता है और जीवन की दिशा ही बदल देता है।

4.2 अभय की अनुप्रेक्षा

अभय की अनुप्रेक्षा निम्न प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. गुलाबी रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
   ''श्वास के साथ गुलाबी रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं।'' — 3 मिनट
4. आनन्द-केन्द्र पर गुलाबी रंग का ध्यान करें। — 3 मिनट
5. दर्शन-केन्द्र पर चित्त केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें (9 बार उच्चारण, 9 बार मानसिक जप)—
   ''अभय का भाव पुष्ट हो रहा है। भय का भाव क्षीण हो रहा है।'' — 5 मिनट
6. अनुचिंतन करें—''भय से विकसित शक्तियां कुण्ठित हो जाती हैं। नई शक्तियां विकसित नहीं हो पाती। इसलिए मुझे अभय होने का अभ्यास करना चाहिए। जो डरता है, उसे सभी डराते हैं। भय व्यक्ति को कमजोर बनाता है। कमजोर व्यक्ति का कोई सहयोग नहीं करता। शक्ति के विकास के लिए अभय की साधना करूं—यह मेरा दृढ़ निश्चय है। मैं निश्चित ही भय से छुटकारा पा लूँगा।'' — 10 मिनट
7. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। — 2 मिनट

सारांश

वैयक्तिक जीवन के दो पक्ष हैं—वैयक्तिक तथा सामाजिक। वैयक्तिक जीवन अच्छा होने से सामाजिक जीवन भी अच्छा हो सकता है। व्यक्ति के व्यवहार का मूल्यांकन समाज करता है। अत: वैयक्तिक जीवन में जितने अधिक मूल्य होंगे, समाज पर उसका उतना ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा। मुख्य वैयक्तिक मूल्य निम्न प्रकार हैं—

1. अनासक्ति—अनासक्ति का अर्थ है—आसक्ति न रखना, व्यक्ति आसक्ति का जीवन जीता है। इसीलिए वह दु:खी होता है। पदार्थ का उपयोग करना भिन्न बात है और उसके प्रति आसक्ति रखना भिन्न बात है। आसक्ति के कारण ही अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं। अत: आसक्ति का समाधान है—अनासक्ति। आसक्ति के कारण व्यक्ति प्रवृति करता रहता है। जीवन में निवृत्ति भी आवश्यक है। इसलिए निवृत्ति के लिए अनासक्ति का विकास करना आवश्यक है।

2. सहिष्णुता—सहिष्णुता का अर्थ है—सहन करना। विषम परिस्थितियों में ही व्यक्ति की पहचान होती है। जो व्यक्ति जितना अधिक सहनशील होता है, वह व्यक्ति उतना ही समस्याओं से दूर रहता है। जो व्यक्ति असहिष्णु होता है, वह उतना ही दु:खी रहता है। असहिष्णुता के कारण व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, मनोदैहिक स्तर पर एवं सामाजिक आदि प्रभावित होता है। अत: सहिष्णु व्यक्ति का मनोबल बढ़ता है, प्रसन्न चित्त रहता है, धैर्य का विकास होता है, संबंधों में मधुरता होती है, आध्यात्मिक विकास होता है आदि-आदि।

3. मृदुता—मृदुता का अर्थ है—मधुर व्यवहार, शिष्ट व्यवहार। व्यक्ति की पहचान उसके व्यवहार से होती है। मृदु व्यवहार सर्वत्र प्रसन्नता बिखेरता है। मृदुता के दो प्रकार हैं—प्रतीयमान मृदुता और यथार्थ मृदुता। प्रतीयमान मृदुता में वास्तविक व्यवहार नहीं होता है और यथार्थ मृदुता में वास्तविक और

निश्छल व्यवहार होता है। मृदुता का महत्त्व वैयक्तिक जीवन में तो है ही पर सामाजिक जीवन में इसका परिणाम स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

4. अभय—अभय का अर्थ है—भय रहित होना। अनावश्यक भय व्यक्ति को दब्बू बना देता है, निष्क्रिय बना देता है। भय भी दो प्रकार के हैं—सकारात्मक भय और नकारात्मक भय। सकारात्मक भय व्यक्ति को क्रियाशील रखता है तो नकारात्मक भय व्यक्ति के लिए अनेक समस्याएँ पैदा कर देता है। अत: यह त्याज्य है। प्राणी जाति अभय का वातावरण चाहते हैं, क्योंकि इसी में वह सुरक्षा निहित रहती है। इससे स्पष्ट है कि भय कोई नहीं चाहता है बल्कि अभय का वातावरण सबको प्रिय है। यह सत्य भी है कि अभय के वातावरण में व्यक्ति अपनी क्षमताओं को विकसित कर सकते हैं। अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सकते हैं।

प्रश्नावली

1. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अनासक्ति के तहत्त्व तथा स्वरूप को समझाइए।
2. असहिष्णुता के दुष्परिणाम बताइए।

2. निबंधात्मक प्रश्न

1. मृदुता तथा अभय मूल्य को स्पष्ट कीजिए।

सन्दर्भ-ग्रंथ—

01. मूल्य शिक्षण—रामशकल पांडेय
02. मूल्य मीमांसा—गोविन्दचन्द्र पांडेय
03. जीवन विज्ञान की रूपरेखा—मुनि धर्मेश
04. नैतिक शिक्षा : विविध आयाम—महावीरमल लोढ़ा
05. सोया मन जाग जाए—आचार्य महाप्रज्ञ
06. अवचेतन मन से सम्पर्क—आचार्य महाप्रज्ञ
07. अमूर्त्त चिंतन—आचार्य महाप्रज्ञ
08. जीवन विज्ञान : शिक्षा का नयाम आयाम—आचार्य महाप्रज्ञ
09. जीवन विज्ञान : स्वस्थ समाज संरचना का संकल्प—आचार्य महाप्रज्ञ

Accredited with NAAC A Grade
12-B Status from UGC

Address: N.H.-9, Delhi Road, Moradabad - 244001, Uttar Pradesh

Admission Helpline No. : 1800-270-1490

Contact No. :+ 91 9520 942111

Email : university@tmu.ac.in